—प्रकाशक—

महावीर जयन्ति उत्सव समिति

म तु क्लाथ मार्केट,

इ दौर

—संपादक—

श्री नेमीचन्द जैन   श्री अजितप्रसाद

प्रबंध संपादक

श्री मिश्रीलाल सोना

अन्तर्दर्शन



रहिद कसाओ हवे समणो

समत्व—

समसत्तुबंधुवग्गो समसुहदुक्खो पससणिंदसमो।
समलोट्ठुकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो॥

—प्रवचनसार ३।४१।

शत्रु और बंधु सुख और दुःख, प्रशंसा और निंदा मिट्टी और सोना तथा जीवन और मरण में श्रमण समबुद्धि होता है।

निरक्ति—

इहलोगणिरावेक्खो अप्पडिबद्धो परम्मि लोयम्हि।
जुत्ताहारविहारो रहिदकसाओ हवे समणो॥

—प्रवचनसार ३।२६।

श्रमण इहलौकिक विषयतृष्णा से विरत और पारलौकिक विषयाकांक्षाओं से रहित होता है। उसका आहार-विहार संतुलित होता है। वह कषाय वासनाओं से निर्मुक्त रहता है।

व्यक्ति-स्वातन्त्र्य—

अण्णदवियेण अण्णदवियस्स णो कीरदे गुणुप्पादो।
तम्हा दु सव्वदव्वा उप्पज्जंते सहावेण॥

—समयसार गा० ३८५।

कोई भी द्रव्य अर्थात् चेतन या अचेतन व्यक्ति किसी अन्य द्रव्य का गुणोत्पाद नहीं कर सकता। इसलिए सभी द्रव्य अपनी अपनी उपादान योग्यता के अनुसार उत्पन्न होते हैं और परिणमन करते हैं।

परकर्तृत्व का निषेध—

जो जम्हि गुणो दव्वे सो अण्णम्हि दु ण संकमदि दव्वे।
सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं॥

चेतन या अचेतन जिस द्रव्य के जो गुण और धर्म हैं वे उसी में रहते हैं अन्य द्रव्य में संक्रान्त नहीं होते। जब एक द्रव्य के गुण और धर्म अन्य द्रव्य में संक्रान्त नहीं होते तो फिर वे अन्य द्रव्य का परिणमन करानेवाला कैसे हो सकता है।

श्रमण तीरन्दाज होता है

(बौद्ध साहित्य में "मिलिन्द प्रश्न" का स्थान बहुत ऊँचा है। बैक्ट्रि के ग्रीक राजाओं में 'मिनाण्डर' बड़ा प्रतापी और ज्ञान-वारिधि था। स्थवि नागसेन और इसके बीच हुए तर्कपूर्ण प्रश्नोत्तर इतने मर्मस्पर्शी और पूर्ण हैं उन्हें पढ़ जाने पर श्रमण मान्यताओं की स्पष्ट रूप रेखा सम्मुख आ जाती है। श्रमण का ज्ञान कितना अनन्त, पूर्ण, अधिकृत और मनोवैज्ञानिक होता था इसका अ मान हम नीचे दिये गये उद्धरण से लगा सकते हैं। पशु-पक्षी तथा मानव आदिम प्रवृत्तियों का जितना पहचान उनको होता था और जीवन की गह समस्याओं को चिंतन, मनन और निरन्तर आवृत्ति द्वारा हृदयंगम कराने जो मनोवृत्ति उनमें थी वह आज के श्रमण समाज से उठ गई है। सर्वदिक् पर्यवेक्ष और उसका व्यावहारिक जीवन में प्रयोग 'मिलिन्द प्रश्नों' की विशेषता है।)

'भन्ते नागसेन! आप जो कहते हैं कि श्रमण में तीरन्दाज के चार गुण हों चाहिये वे चार गुण कौनसे हैं?

ज्ञान के तूणीर खाली नहीं होते—

१ महाराज! तीरन्दाज तीर चलाने के लिये अपने पैरों को जमीन ठीक से जमाता है, घुटनों को सीधा करता है। तूणीर को कमर से बांध स्थिर रखता है। सारे शरीर को रोक लेता है, एक हाथ में धनुष पकड़ता और दूसरे से तीर चढ़ा लेता है, मुट्ठी को कसकर दबाता है, अंगुलियों को स लेता है, निशाना सीधा करता है और इतमिनान करता है कि मार ही दू वैसे ही योग साधन करने वाला योगी शील की पृथ्वी पर वीर्य के पैरों को जमा है क्षमाशीलता और दया को साधा करता है संयम में चित्त को बाँध देना यमनियमों से अपने को रोक रखता है, इच्छा और उत्कण्ठा को दबा देता मनन करने के अभ्यास से चित्त को लगा लेता है। उत्साह को खींच लेता है, दरवाजों को बन्द कर लेता है ख्याल को जमा लेता है, और विश्वास करता

कि शान पे तीर से क्लेशों को वेध ही दूंगा। श्रमण तीरन्दाज का यही पहला गुण होना चाहिये।

वह स्मृति प्रस्थान का 'आलक' रखता है—

२ महाराज! फिर, तीरन्दाज अपने पास एक आलक रखता है, जिससे टेढ़े तुचड़े तीर का सीधा कर लेता है। वैसे ही, योग साधन करने वाले भिक्षु को अपने टेढ़े-तुचड़े चित्त को सीधा करने के लिये स्मृति प्रस्थान का आलक साथ में बराबर रखना चाहिये। श्रमण धनुर्धर का यही दूसरा गुण होना चाहिये।

लक्ष्य पर एकाग्र दृष्टि रखता है—

३ महाराज! तीरन्दाज लक्ष्य बनाकर उसी पर अभ्यास करता है। वैसे ही, योग साधन करने वाले भिक्षु (श्रमण) को अपने शरीर पर मनन करने का अभ्यास करना चाहिये। महाराज! शरीर पर मनन करने का अभ्यास कैसे करना चाहिये? "यह शरीर अनित्य है दुःख है अनात्म है, रोग का घर है, कष्ट है, पीड़ा जनक है, पापी है, बाधा वाला है, अपना बनकर रहने वाला नहीं है, मर जाने वाला है, विध्वंस मरा है इसमें बड़े बड़े उपद्रव होते हैं, इसमें भय ही भय है मनहूस है, चंचल है क्षणभंगुर है, अध्रुव है, असहाय है, अशरण है, निःसार है शून्य है, दोषों वाला है, असार है, मारने वाला है, संस्कार है, उत्पन्न होने वाला है, बूढ़ा होने वाला है, बीमार पड़ने वाला है, मर जाने वाला है, शोक देने वाला है, परिदेव वाला है, केवल परेशानी देने वाला है, क्लेश देने वाला है,—' ऐसा ही मनन करना चाहिये। महाराज! योग साधन करने वाले भिक्षु (श्रमण) को इसी तरह मनन करने का अभ्यास करना चाहिये। तीरन्दाज का यही तीसरा गुण होना चाहिये।

अथक अभ्यासी होता है—

४ महाराज! तीरन्दाज साम और सुबह अभ्यास करता है। वैसे ही, योग साधन करने वाले भिक्षु को सांझ सुबह ध्यान का अभ्यास करना चाहिये, तीरन्दाज का यही चौथा गुण होना चाहिये।

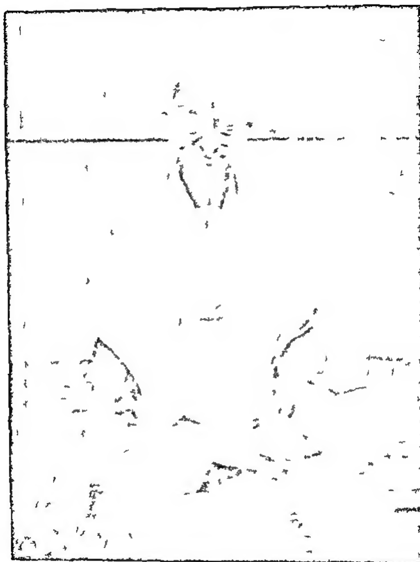
श्रमण के गुण और चिन्ह—

(१) वे अरण्य, वृक्ष-मूल, तथा शून्यागार इन तीन श्रेष्ठ भूमियों में वास करते हैं,
(२) वे सभी अच्छी बातों में आगे रहते हैं
(३) अच्छे नियमों में प्रतिष्ठित रहते हैं,
(४) सदाचारी होते हैं,
(५, ६) शान्त और दान्त होकर विहार करते हैं,
(७) संयमी होते हैं,
(८) क्षान्ति (क्षमा) से युक्त होते हैं,
(९) सुरत होते हैं
(१०) श्रेष्ठ आचार विचार वाले होते हैं
(११) ऊँची और पवित्र इच्छाओं वाले होते हैं,
(१२) विवेक सम्पन्न होते हैं,
(१३) पाप कामों से लज्जा और भय रखने वाले होते हैं,
(१४) वीर्यवान् होते हैं,
(१५) अप्रमादी होते हैं,
(१६) शिक्षापदों की आवृत्ति करने में सदैव उत्साहशील रहते हैं,
(१७) धर्म को जानने के लिये सदा उत्सुक रहते हैं,
(१८) शीलों के पालन करने में तत्पर रहते हैं,
(१९) तृष्णा पर विजय पाने वाले होते हैं और
(२०) शिक्षापदों को पूरा करते हैं—ये उनके अपने बीस गुण होते हैं।

—'मिलिन्द प्रश्न' से



विरक्ति के पथ पर—



आत्म चिंतन में लीन

सर सेठ हुकमचंद जी

हम तो स्वाधीन विचरते हैं !

श्री वीरेन्द्रकुमार जैन

(धर्म के कृत्रिम विधि विधान की लीक पीटने वाले यहूदी पोप पुरोहितोंने महात्मा ईसाकी मुक्त चर्या पर जब आपत्ति उठाई, और प्रहारकी धमकियाँ दी थीं तब उनने श्रमणों के निर्बाध विहार की जो तेजस्वी घोषणा की उसीके भाव को प्रस्तुत गीत में बाँधा गया है। यह लेखक के अप्रकाशित-गीति प्रबंध 'ज्योति पुरुष' का एक अंश है।— ले०)

हम तो स्वाधीन विचरते हैं !
हम नहीं किसी के कहने से,
चलते हैं या कि ठहरते हैं।
हम जीवों के कल्याण हेतु ही,
इस धरती पर फिरते हैं॥
हम जहाँ रहें, भव भीतेजनोंके,
पाप ताप सब हरते हैं।
हमको न अरे, भय की बाधा,
हम तो स्वाधीन विचरते हैं !
इस धरती के कानून नहीं,
हम मस्तों की पथ-मर्यादा।
क्या कभी मनुज के शासन ने,
आजाद हवाओं को बाँधा ?
जीवन प्रवाह हम निर्बन्धन,
उन्मुक्त समुंदर बहते हैं।
हमको न अरे, कोई बन्धन,
हम तो स्वाधीन विचरते हैं !
हम काल पुरुष के राजपुत्र,
है वही हमारा पथ नेता।
जब वह घड़ियाल बजाता है,
तब अपना कूच कदम होता !
हम अरे, मौत की रातों में,
चिर जीवन दीपक जलते हैं।
बलिदान हमारी लीला है,

महावीर ने कहा—

स्व० कन्हैयालाल मोतीलाल शाह

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] दिया। [illegible] [illegible] और [illegible] पर [illegible] [illegible]। [illegible] पर, [illegible] के [illegible] है। महावीर के [illegible] पर [illegible] लिख [illegible] 'महावीर [illegible]', और [illegible] मारका [illegible] [illegible] है।]

एक दिन मैं महावीर की खोज में शत्रुंजय की पहाड़ी पर चढ़कर घाट रहा था और बालक की तरह महान पहाड़ी [illegible] देख रहा था कि सामने महावीरकी प्रशान्त मूर्ति दिख पड़ी। निर्भय [illegible] और आनन्दकी उस भव्य मूर्तिको देखकर मैं समझ गया कि यही जैनोंके अन्तिम तीर्थंकर महावीर हैं। महावीरने मुझे इशारा किया, मैं पीछे-पीछे चलने लगा। आगे आगे महावीर और पीछे मैं। वे एक सुगम शिखरके पास रुके और कहने लगे—

'दया और रक्षा की भावनाने आर्यावर्तको निर्माल्य बना दिया है और क्रूरता तथा भक्षणकी भावना ने आर्यावर्त [illegible] सिवाय शेष दुनियाका [illegible] किया है। दुनिया भूल गई [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible], [illegible] नहीं। [illegible] [illegible], [illegible] [illegible] और [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] हो सकती है। इसलिए तो [illegible] उनके नाम है। लोगोंने मेरी दया और रक्षा का अन्यथा अर्थ [illegible] लिया है। बस, तुझे मैं इनके [illegible] घटनाओंको दिखा कर उसका [illegible] [illegible] बताता हूँ।'

इतने में मैंने एक अलौकिक दृश्य देखा कि—

शत्रुंजय पर्वतकी एक टेकरी से दूसरी टेकरीपर निर्भय बढ़नेवाले महावीरको गौतमने पुकारा—'भगवन्'। पर महावीर बिना रुके आगे बढ़ते ही गए। उन्होंने पीछे की तरफ देखा भी नहीं।

गौतमने फिर अरज की—'प्रभो, इस ऊँचे नीचे पर्वत शिखरोंपर आपके साथ चलते-चलते मेरा दम फूल गया है, मैं थक गया हूँ। हवाका तूफान मेरे कपड़ोंमें भरकर मुझे नीचे की ओर खींच रहा है। कृपा करके थोड़ी देर रुक [illegible] अपने हाथका सहारा [illegible]

भगवान् और [illegible]

[illegible]। मुझे

अभी तक खबर भी नहीं। और दया, यह भी भगवान् के साथ ही मर गई। हा 'हा' 'हा' महावीर ने खिल खिला कर कहा।

वस्त्रों के कारण तू नीचे को खिंच रहा है, तो क्यों नहीं उन्हें फेंक देता? शत्रुञ्जय (काम क्रोधादि शत्रु को जीतने वाली उच्च भूमिका) गिरि शिखर की स्वस्थ हवा चाहता है तो शरीर पर वस्त्र क्यों लाद रखे हैं? यह इन्हीं क्यों धरा रहा है? अपनी मूर्खता और आसक्ति से विकृत बनाए गए शरीर की कुरूपता को ढकने के लिए और दुनियाँ को धोखा देने के लिए दुनियावी विद्वानों ने वस्त्र बनाए और स्वाभाविक नग्नता को पाप, ग्लानि और अश्लील बनाया। पर तू तो इस समय हवा की तरह प्राकृतिक नग्न, शरमरहित और जंगली बनना चाहता है तब वस्त्र की क्या जरूरत? दुनियावी विद्वानों के इस जाल को दुनिया की ही तरफ फेंक दे" महावीर ने कहा।

'और गौतम, पर्वत की टेकरियों पर विहार करने वाले तेरे जैसे सिंह को वस्त्रों का जाल! यह कल्पना ही असह्य है। दुनियादारों के लिए 'नीति 'अनीति' के वस्त्रों के जाल रचे गए हैं। पर सिंहों के लिए तो प्राकृतिक नग्नवृत्ति ही है। सिंह और वीरों के लिए कोई शरम की बात नहीं है, शरम उनके शब्दकोश में ही नहीं है, उनके पास छिपाने लायक कुछ नहीं। शरम और भय इनको जो पूरी तरह भूल सकता हो वही शत्रुञ्जय गिरिराज पर रह सकता है और वहाँ की आरोग्य और शक्तिदायिनी हवा का उपभोग कर सकता है। देवबल्लभ नग्न होने और नग्न रहने की शरम को इन शरम भरे वस्त्रों में ही लपेटकर फेंक दे इस शरमभरी दुनिया पर" वे फिर बोले–

'और देवबल्लभ, शत्रुञ्जय गिरिराजपर चढ़ते समय 'कहीं गिर न जाऊँ' इस भय के वश हो तू हाथ पकड़ने की आशा रखता है। तू इस आशा और भय को यहाँ की खुशनुमाँ हवा में उड़ा दे। और आशा और भय के चक्र से परे रहनेवाला नंगा या बालक बन जा, बालक!"

"गुरुदेव, जैसी आपकी आज्ञा' गौतम ने कहा। पर गुरु के आलम्बन का त्याग कैसे किया जाय? इसी विचार में गौतम का मन उलझ गया।

"गौतम, मैं कभी आशा नहीं करता। 'आशा, प्रार्थना और हाय हाय करना' ये तीनों बलाएं मुझसे दूर हट रहती हैं। ये मुझसे डरती हैं। ये तीनों बलाएँ दुनियावी इश्वरों के पेट में घुस गई हैं" यह गौतम से कहकर महावीर शत्रुञ्जय की एक अत्यन्त दुर्गम शिखर पर नग्न निर्भय रूप में एक पैरसे खड़े हुए खिलखिलाकर अट्टहास करने लगे।

गौतम महावीर के इन गम्भीर उद्गारों का मर्म नहीं समझे। वे उसके

घबरा गए। महावीर की पारदृष्टि गौतम के मनोभावों को बराबर देख रही थी पर उसकी ज्ञानज्योति इतनी सतेज थी कि उसमें दया की शीतलता को अवकाश ही नहीं मिला। वह सागर जैसे गम्भीर और शिखर जैसे उच्च मन्च पर कठिन हृदय से गौतम के प्रति फिर जोर से खिलखिलाए और बोले–

"देवपल्लभ, तू मेरा हाथ माँगता है। हा" "हा" हा , तू मेरा हाथ माँगता है। पर मैं स्त्री नहीं हूं। हा हा । तू मुझे स्त्री बनाना चाहता है। यही तेरी गुरुभक्ति है? सुन, मैं तुझे कहे देता हूँ कि स्त्री हाथ तो देती है पर बदले में हृदय ले लेती है। हृदय जाते ही हिम्मत उसी के साथ चली आती है। इसीलिए स्त्रियां बड़ी हिम्मतवाली हैं।

आज पुरुष रोता हुआ, दीन, पर के हाथ का सहारा चाहने वाला, स्वत्व और स्वमान का भान न रखनेवाला अनुदार बन गया है। देवपल्लभ, यदि मुझमें परका कुछ भी करने की शक्ति होती तो मैं यह चाहता कि आज के पुरुष स्त्री बन जावे। इससे उनमें कुछ विशेष मनुष्यता प्रकट होती। और गौतम, अपने तो इस समय मनुष्यता ही नहीं, किन्तु देवत्व,परमदेवत्व और सिद्धत्व के प्रकट करने के लिए शत्रुंजय गिरिराज पर निकल पड़े हैं, तू क्या यह भूल गया" महावीर ने ...

'गौतम, आज की स्थि
की वफादार नहीं है और पुरु
के आज सबका लक्ष्य सि
विनाश हो रहा है, और मुक्ति
मात्र एक आराम ही। और
मुक्ति के स्थान पर ऐश आराम
बैठा रखा है। आराम और
आलस्य मानकर 'दुनियावी रक्
शेष दुनियाँ के मनुष्यों के लिए
धनीति के बन्धन और दुःख पर
सांकलें ...
गौरव आदि के बिना हृद कर
तरह जिन्दगी बिताना सिखाया।
वल्लभ, तू भी इन सब ...
आडम्बरों में उलझ रहा है,
हाथ का सहारा माँगता है। पर
देवपल्लभ, समझ, ...
धर्म के आडम्बरों को तोड़ने के
नूतन धर्म का प्रतिबोध देने के लि
और नवीन लोगों को मकझोर
से कुछ हिम्मत वाले व्यक्तियों का निर्म
करने के लिए ही मैं अपनी स
स्वावलम्बी शिखर से कुछ नीचे उत
आया हूँ। प्रत्येक वस्तु को नवीन
दे रहा हूं, नया नाम और नया रू
रहा हूँ। इसीसे पुराने मूल्य के ठेकेदा
का आसन हिल रहा है। वे क्रोधित
मुझपर प्रहार करने में भी नहीं चूकते
पर इससे क्या? प्रत्येक प्रहार मुझे
आनन्द का नया पाठ देता है। और
इसीलिए मैं आर्यों की अपेक्षा अनार्य

की समर्थ प्रेरणा नहीं दे रहे हैं। गौतम मैंने यह पहिले ही कहा था कि इस दुनिया में से 'प्रभु' मर गया है, और अब फिर यह कहता हूँ कि– इस समय प्रभु तुझमें 'अवतार' लेना चाहता है। तू इसके लिए तैयार होजा।

इसके बाद महावीरने नेत्र खोले और पूर्ण तेजस्विता से कहा— गौतम, देववल्लभ, भावी भगवान, खड़ा हो जा, और पहाड़पर चढ़ने लगे, कूदता हुआ, फलांग मारता हुआ और छोटे पुरुषोंकी हँसी करता हुआ और टेकरियोंको धपके देता हुआ ऊँचे-ऊँचे और ऊँचे चढ़ने लगा।

इसी समय गौतमके शरीर में बिजली की शक्ति सी आई। उसने माथा ऊँचा किया और वह आगे बढ़ने लगा। शरीर पर के सारे वस्त्र उसने हवा में फेंक दिए।

एक, दो, तीन टेकरियाँ पार की होंगी कि एकाएक गौतम को सिंहगर्जना सुनाई दी।

गौतम वहीं रुक गया और उसके मुँह से सहज में निकल पड़ा—"प्रभो, सहाय करो, रक्षा करो।"

"ओ भय के वातावरणको चाहने वाली दुनियाकी मछली, तू दिन रात भय भयसे ही तड़फड़ाती रहती है।

यदि मैंने क्रोधादि सभी दुर्वृत्तियों पर जय न किया होता तो तुझ पर असीम क्रोध आता। इस तरह भय से जिन्दगी बिताने की अपेक्षा सिंह के मुख में जीतेजी घुसने का साहस क्या 'उच्च खानदानी' नहीं है। पेट के बल चलकर ''ग रेंगकर दस वर्ष जीवन लम्बा करने की अपेक्षा कूदना नाचना हँसना उड़ना और स्पर्श करने में क्या अधिक मज़ा नहीं है। दूसरे की मदद, रक्षा और दया से जीवित रहने की अपेक्षा भय की मरदानगी की मैंड चढ़ाने में क्या अधिक स्वास्थ्य सुख नहीं है।

ऐ नाजुक बदन की गुलामी में गले तक फँसे हुए मनुष्य, इस भय को तूने ही उत्पन्न किया है। तू सच बता, क्या इसी तरह तूने दुनिया में भय की सृष्टि नहीं की है। यह सिंह तुझे डराता है, पर तू चाहे जितने सिंहों के कान पकड़ सकता है' इस सत्य को तू क्यों भूल गया है!" इस प्रकार महावीर ने कहा।

"देववल्लभ, मैं तुझे एक अपनी बीती सुनाता हूँ। सुन,

गौतम, मैं एक दिन इसी शिखर पर बैठा हुआ अनन्त आकाश में खेल रहा था। लोग इसे ध्यानदशा कहते हैं। पर इस दशा में जो अनेक युद्ध चलते हैं, और समुद्र स्नान, सूर्यस्नान तथा भयकर तूफान चलते हैं, उनकी खबर कुछ ही विवेकियों को होती है।

... कुछ साथों को लेकर ... । मुझे साधु

समझकर बोला—बाबाजी, मैं जब तक वापिस आता हू तब तक इन गायों को सम्हालना। यह कहकर वह चला गया। गौतम, समझा ? ये गायें और ग्वाला क्या हैं ? ये मनुष्य गायें और इनके दिल पर सत्ता चलाने वाले राजा और धर्म के ठेकेदार गुरु ये ग्वाले हैं। तू समझा ।

उस ग्वाले ने विचारा होगा कि मैं भी एक साधु होने से इन गायों को बाँध रखने की कला जानता होऊँगा। और इसीलिये वह मुझे गायों को सौंप कर चल दिया।

पर म तो टेकरी पर बैठा हुआ बादलों के उस पार उड़ रहा था, यहीं तैर रहा था। मुझे उन गायों की क्या परवाह थी !

आकाश से कामधेनु लाने की शक्ति मुझ में थी, पर मैं बेगरज, मुझे इन गायों की क्या परवाह !

जिस तरह मुझे गायों का ग्वाला या मालिक बनने की इच्छा नहीं थी, उसी तरह लकड़ी से मार मारकर उनका दूध छीनने वाले उन्हें सदा बाँध रखने वाले ग्वाले से उन गायों को छुड़ाने की भी इच्छा नहीं थी। कारण, मैं प्रकृति के नियम और उसकी प्रक्रिया को बराबर जानता था। मुझे किसी भी दशा म खेद नहीं होता था। मैं लागणी मात्र से परे था। मेरी प्रकट शक्तियाँ किसी की तृषा मेटने में सहायक हो जाँय, यह दूसरी बात है, पर मेरा स्वयं किसी को खेद पहुँचाने या किसी पर दया करने का स्वभाव नहीं था।

इसीलिये मैंने उन गायों की परवाह न की और अपने ध्यान में मस्त रहा। मुझे इस तरह लापरवाह देख कर गायें स्वयं किसी गाँव के रास्ते चल गई।

"गौतम ये बिचारी गायें कदाचित् यह समझती होंगी कि उस ग्वाले की तरह मैं उन्हें खूटे से बाँधूगा कुछ हरी घास डालूगा दो चार पुचकारा देकर और पीछे एकाध डण्डा जमाकर उन्हें दुह लूगा।"

"उन बिचारी गायों को खुले मैदान में चरने की मनाई थी। वे तो खूटे के आगे पड़ी हुई हरी घास को खाती थीं। बस उनको वही आदत पड़ गई थी और उसी में उन्हें सुख लगता था।"

"उन बिचारी गायों के आगे सदा रस्सी और दण्ड रहता था। वह मेरे पास उनने देखा नहीं। गौतम, बता, उन गायों को मेरे पास रहना कैसे सुहाता ?"

"पर गौतम, सुन, महावीर लोगों के साथ अधिक बोलचाल नहीं करता। सिंहनी का दूध स्वर्णपात्र में ही ठहर सकता है। महावीर यह जानते थे कारण कि वे गुफा में भी देख सकते थे।"

को समर्थ प्रेरणा नहीं दे रहे हैं। गौतम मैंने यह पहिले ही कहा था कि इस दुनिया में से 'प्रभु' मर गया है, और अब फिर यह कहता हूँ कि— इस समय प्रभु मुझमें 'अवतार' लेना चाहता है। तू इसके लिए तैयार होजा।

इसके बाद महावीरने नेत्र खोले और पूर्ण तेजस्विता से कहा— गौतम, देववल्लभ, भावी भगवान्, खड़ा हो जा, और पहाड़पर चढ़ने लग, कूदता हुआ, छलांग मारता हुआ और छोटे पुरुषोंकी हँसी करता हुआ और टेकरियोंको थपेड़े देता हुआ ऊँचे-ऊँचे और ऊँचे चढ़ने लगा।

इसी समय गौतमके शरीर में बिजली की शक्ति सी आई। उसने माथा ऊँचा किया और वह आगे बढ़ने लगा। शरीर पर के सारे वस्त्र उसने हवा में फेंक दिए।

एक, दो, तीन टेकरियाँ पार की होंगी कि एकाएक गौतम को सिंहगर्जना सुनाई दी।

गौतम वहीं रुक गया और उसके मुँह से सहज में निकल पड़ा—"प्रभो, सहाय करो, रक्षा करो।"

"ओ भय के वातावरणको चाहने वाली दुनियाकी मछली, तू दिन रात भय भयसे ही तड़फड़ाती रहती है।

यदि मैंने क्रोधादि सभी दुर्वृत्तियों पर जय न किया होता तो तुम्हारा असीम क्रोध आता। इस तरह ... के

जिन्दगी बिताने की अपेक्षा सिंह के मुख में जीतेजी घुसने का साहस क्या 'उच्च शानदारी' नहीं है? पट के बल चलकर रेंग रेंगकर दम ... जीवन लम्बा करने की अपेक्षा कूदना नाचना हँसना उड़ना और संघर्ष करने में क्या अधिक मज़ा नहीं है। दूसरे की मदद, रक्षा और दया से जीवित रहने की अपेक्षा भय को मरणागती की भेंट चढ़ाने में क्या अधिक स्वारस्य सुख नहीं है?

ऐ नाजुक बदन की गुलामी में गले तक फँसे हुए मनुष्य, इस भय को तूने ही उत्पन्न किया है। तू सच बता, क्या इसी तरह तूने दुनिया में भय की सृष्टि नहीं की है? यह सिंह तुझे डराता है, पर तू चाह जितने सिंहों के कान पकड़ सकता है इस सत्य को तू क्यों भूल गया है?" इस प्रकार महावीर ने कहा।

"देववल्लभ, मैं तुझे एक अपनी बीती सुनाता हूँ। सुन,

गौतम, मैं एक दिन इसी शिखर पर बैठा हुआ अनन्त आकाश में खेल रहा था। लोग इसे ध्यानदशा कहते हैं। पर इस दशा में जो अनेक युद्ध चलते हैं, और समुद्र स्नान, अग्निस्नान तथा भयंकर तूफान चलते हैं, उनको खबर कुछ ही विवेकियों को होती है।

इसी समय कुछ गायों को लेकर ... पास आया। मुझे साधु

समझकर बोला—बाबाजी, मैं जब तक वापिस आता हू तब तक इन गायों को सम्हालना। यह कहकर वह चला गया। गौतम, समझा ? ये गायें और ग्वाला क्या हैं ? ये मनुष्य गायें और इनके दिल पर सत्ता जमाने वाले राजा और धर्म के ठेकेदार गुरु ये ग्वाले हैं। तू समझा।

उस ग्वाले ने विचारा होगा कि मैं भी एक साधु होने से इन गायों को बाँध रखने की कला जानता होऊँगा। और इसीलिये वह मुझे गायों को सौंप कर चल दिया।

पर मैं तो टेकरी पर बैठा हुआ बादलों के उस पार उड़ रहा था यहीं घूम रहा था। मुझे उन गायों की क्या परवाह थी!

आकाश से कामधेनु लाने की शक्ति मुझ में थी, पर मैं बेगरज, मुझे इन गायों की क्या परवाह?

जिस तरह मुझे गायों का ग्वाला या मालिक बनने की इच्छा नहीं थी, उसी तरह लकड़ी से मारमारकर उनका दूध छीनने वाले उन्हें सदा बांध रखने वाले ग्वाले से उन गायों को छुड़ाने की भी इच्छा नहीं थी। कारण मैं प्रकृति के नियम और उसकी प्रक्रिया को बराबर जानता था। मुझे किसी भी दशा में खेद नहीं होता था। मैं लागणी मात्र से परे था। मेरी प्रकट शक्तियाँ किसी की तृषा मेटने में सहायक हो जाँय, यह दूसरी बात है, पर मेरा स्वयं किसी को खेद पहुंचाने या किसी पर दया करने का स्वभाव नहीं था।

इसीलिये मैंने उन गायों की परवाह न की और अपने ध्यान में मस्त रहा। मुझे इस तरह लापरवाह देख कर गायें स्वयं किसी गाँव के रास्ते चल गईं।

"गौतम, वे बिचारी गायें कदाचित् यह समझती होंगी कि उस ग्वाले की तरह मैं उन्हें खूटे से बाँधूगा कुछ हरी घास डालूगा, दो चार पुचकारा देकर और पीछे एकाध डण्डा जमाकर उन्हें दुह लूगा।"

"उन बिचारी गायों को खुले मैदान में चरने की मनाई थी। वे तो खूटे के आगे पड़ी हुई हरी घास को खाती थीं। अत उनकी यही आदत पड़ गई थी और उसी में उन्हें सुख लगता था।"

"उन बिचारी गायों के आगे सदा रस्सी और दण्ड रहता था। वह मेरे पास उनने देखा नहीं। गौतम, बता, उन गायों को मेरे पास रहना कैसे सुहाता ?"

"पर गौतम, सुन, महावीर लोगों के साथ अधिक बोलचाल नहीं करता। सिंहनी का दूध स्वर्णपात्र में ही ठहर सकता है। महावीर यह जानते थे कारण कि वे गुफा में भी देख सकते थे।"

की समर्थ प्रेरणा नहीं दे रहे हैं। गौतम मैंने यह पहिले ही कहा था कि इस दुनिया में ही 'प्रभु' मर गया है, और अब फिर यह कहता हूँ कि— इस समय प्रभु तुझमें 'अवतार' लेना चाहता है। तू इसके लिए तैयार होजा।

इसके बाद महावीरने नेत्र खोले और पूर्ण तेजस्विता से कहा— गौतम, देववल्लभ, भावी भगवान्, खड़ा हो जा, और पहाड़पर चढ़ने लगे, कूदता हुआ, फलांग मारता हुआ और कोण पुष्पोंकी हँसी करता हुआ और टेकरियोंको थपेड़े देता हुआ ऊँचे-ऊँचे और ऊँचे चढ़ने लगा।

इसी समय गौतमके शरीर में बिजली की शक्ति सी आई। उसने माथा ऊँचा किया और वह आगे बढ़ने लगा। शरीर पर के सारे वस्त्र उसने हवा में फेंक दिए।

एक, दो, तीन टेकरियाँ पार की होंगी कि एकाएक गौतम को सिंहगर्जना सुनाई दी।

गौतम वहीं रुक गया और उसके मुँह से सहज में निकल पड़ा—"प्रभो, सहाय करो, रक्षा करो।"

"ओ भय के वातावरणको चाहने वाली दुनियाकी मछली, तू दिन रात भय भयसे ही तड़फड़ाती रहती है।

क्रोधादि सभी दुष्ट वृत्तियों न किया होता तो गुफारत आता। इस तरह भय की जिन्दगी बिताने की अपेक्षा सिंह के मुख में जीतेजी घुसने का साहस क्या 'उच्च खानदानी' नहीं है? पेट के बल चलकर रेंग रेंगकर दस वर्ष जीवन लम्बा करने की अपेक्षा कूदना नाचना हँसना उड़ना और संघर्ष करने में क्या अधिक मजा नहीं है? दूसरे की मदद, रक्षा और दया से जीवित रहने की अपेक्षा भय को मरदानगी की भेंट चढ़ाने में क्या अधिक स्वास्थ्य सुख नहीं है?

ऐ नाजुक बदन की गुलामी में गले तक फँसे हुए मनुष्य, इस भय को तूने ही उत्पन्न किया है। तू सच बता, क्या इसी तरह तूने दुनिया में भय की वृद्धि नहीं की है? यह सिंह तुझे डराता है, पर तू चाहे जितने सिंहों के कान पकड़ सकता है' इस सत्य को तू क्यों भूल गया है?" इस प्रकार महावीर ने कहा।

"देववल्लभ, मैं तुझे एक अपनी बीती सुनाता हूँ। सुन,

गौतम, मैं एक दिन इसी शिखर पर बैठा हुआ अनन्त आकाश में खेल रहा था। लोग इसे ध्यानदशा कहते हैं। पर इस दशा में जो अनेक युद्ध चलते हैं, और समुद्र स्नान, सूर्यस्नान तथा भयकर तूफान चलते हैं उनकी खबर कुछ ही विवेकियों को होती है।

इसी समय कुछ गायों को लेकर एक ग्वाला मेरे पास आया। मुझे साधु

समझकर बोला—बाबाजी, मैं जब तक वापिस आता हू तब तक इन गायों को सम्हालना। यह कहकर वह चला गया। गौतम, समझा? ये गायें और ग्वाला क्या है? ये मनुष्य गायें और इनके दिल पर सत्ता चलाने वाले राजा और धर्म के ठेकेदार गुरु ये ग्वाले हैं। तू समझा।

उस ग्वाले ने विचारा होगा कि मैं भी एक साधु होने से इन गायों को बांध रखने की कला जानता होऊँगा। और इसीलिये वह मुझे गायों को सौंप कर चल दिया।

पर मैं तो टेकरी पर बैठा हुआ बादलों के उस पार उड़ रहा था, वहीं घूम रहा था। मुझे उन गायों की क्या परवाह थी?

आकाश से कामधेनु लाने की शक्ति मुझ में थी, पर मैं बेगरज, मुझे इन गायों की क्या परवाह?

जिस तरह मुझे गायों का ग्वाला या मालिक बनने की इच्छा नहीं थी, उसी तरह लकड़ी से मार मारकर उनका दूध छीनने वाले उन्हें सदा बांध रखने वाले ग्वाले से उन गायों को छुड़ाने की भी इच्छा नहीं थी। कारण मैं प्रकृति के नियम और उसकी प्रक्रिया को बराबर जानता था। मुझे किसी भी दशा में खेद नहीं होता था। मैं लागणी मात्र से परे था। मेरी प्रकट शक्तियां किसी को तृषा मेटने में सहायक हो जांय, यह दूसरी बात है, पर मेरा स्वयं किसी को खेद पहुंचाने या किसी पर दया करने का स्वभाव नहीं था।

इसीलिये मैंने उन गायों की परवाह न की और अपने ध्यान में मस्त रहा। मुझे इस तरह लापरवाह देख कर गायें स्वयं किसी गाँव के रास्ते चल गईं।

"गौतम, वे बिचारी गायें कदाचित् यह समझती होंगी कि उस ग्वाले की तरह मैं उन्हें खूंटे से बाँधूंगा कुछ हरी घास डालूंगा, दो चार पुचकारा देकर और पीछे एकाध डण्डा जमाकर उन्हें दुह लूंगा।"

"उन बिचारी गायों को खुले मैदान में चरने की मनाई थी। वे तो खूंटे के आगे पड़ी हुई हरी घास को खाती थीं। अत उनकी वही आदत पड़ गई थी और उसी में उन्हें सुख लगता था।"

"उन बिचारी गायों के आगे सदा रस्सी और डण्डा रहता था। वह मेरे पास उनने देखा नहीं। गौतम, बता, उन गायों को मेरे पास रहना कैसे सुहाता?"

"पर गौतम, सुन, महावीर लोगों के साथ अधिक बोलचाल नहीं करता। सिंहनी का दूध स्वर्णपात्र में ही ठहर सकता है। महावीर यह जानते थे कारण कि वे गुफा [illegible] भी रह सकते थे।"

और महावीर की भाषा जितनी सिंह और बालक समझ सकते हैं उतनी गायें और ग्वाले नहीं समझ सकते। कारण कि सिंह के उच्छ्वास को भी गायें दुराग्रह मानती हैं। इसीलिये मैं गुफाओं, पर्वतशिखरों, बादलों या अपने विचारपुत्रों से ही बात करता हूं। और यदि कभी दुनिया में कोई बलवा करने वाला शेर दिल आता है तो उसके साथ भी बातें कर लेता हूं।

'ओ देववल्लभ, मेरी समझदारी और ज्ञान शहर की गुफा में रहा था, अतः शहरी लोगों को वह भयंकर मालूम होता था। मेरी समझदारी एकान्त गिरिशिखर की शिला पर जमी थी, और उसका बालक जन्म से ही समुद्रतल से अनन्त आकाश तक उछलता था।

यह तन्दुरुस्ती, यह मस्ती और यह जन्मसिद्ध शक्ति दुनिया को भड़काने वाली है। कारण कि बाड़े में या घर में, खूंटे से बंधे रहने में या दो गज की जमीन में लोटने या पेट घसीटकर बसने जैसी प्रकृति में इनकी 'सुरक्षित जिन्दगी' का सैर है। जब हरी घास इनके सामने पड़ जाती है तो ये उसे खाकर तथा वहीं लोट-पोट कर खुश हैं। यही बात इनकी प्रकृति में बैठाने के लिये युगों से अनन्त ग्वालों ने श्रम है। 'और ऐ देववल्लभ, चोटी पर और गुफा-गुफा में मेरी समझदारी को जानने वाला मस्त बालक मौजूद है और आगे रहेंगे। और कुछ समय बाद उन मस्त बालकों को नहीं देखने वाली गाएं उन चोटियों को पूजने जायंगी।"

'और गौतम मैं हंसी नहीं करता, मैं तुम्हारे जैसे शत्रुञ्जय गिरि पर चढ़ने वाले का 'ईश्वर' बनने में आनाकानी कर रहा हूं और ये बिचारी गायें तो पत्थर के टुकड़े को भी ईश्वर बनाकर पूजती हैं। इन गायों और ग्वालों की कितनी थोड़ी महत्वाकांक्षा है, कितनी थोड़ी ढीठता है! इस महत्वाकांक्षा पर तू हंसता नहीं! 'ये पत्थर को ईश्वर बना रहे हैं' इसी से मालूम होता है कि इनका हृदय कोई दूसरी वस्तु को नहीं चाहता, केवल ईश्वरत्व के लिये तरस रहा है।

'गौतम, पत्थर को ईश्वर बनाने वालों के प्रति तुझे हंसी नहीं आनी! ऐश्वर्य तो विश्व में सब जगह फैला हुआ है। इसलिये जब मनुष्य अपना ऐश्वर्य स्वीकार करने और जाहिर करने में जितना विकृत बनता है, उतना ही उसके अन्दर का दबा हुआ ऐश्वर्य किसी दूसरे पात्र या पदार्थ को 'ईश्वर' बनाने लिये प्रवृत्त होता है। यह दबा हुआ ऐश्वर्य ही कहता है कि—'चलो पत्थर को ही ईश्वर बनाकर पूजा जाय क्योंकि ईश्वर-पूजा के बिना सब धूल है।'

'गौतम, इन ग्वालों ने गायों को अपने ऐश्वर्य को पहिचानने, स्वीकार करने और जाहिर करने में शरम, पाप, अनीति और अपराध मानने की शिक्षा दी। क्योंकि जड़ पर ही सहज रीति से राज किया जा सकता है। इसीलिये इन ग्वालों ने गायों को विनय भी सिखाई।

लम्बे समयसे इस प्रकार सिखाई गई गायें स्वयं ग्वालोंसे कहती हैं कि तुम हमारे शरीर में से दूध दुह लो, और उस दूधकी मलाईसे सशक्त बनकर अनन्त काल तक हमारे ऊपर स्वामित्व करो, और हमारी जिन्दगी को 'सुरक्षित' रखनेके लिए हम खूँटेसे बाँधो, रस्सा और डण्डेका प्रयोग करो। जैसा तुम्हारा मन चाहे हम रखो। तुम्हारी शरण में ही हमें सुख है।"

नागरिक हाकिमोंसे कहते हैं-हमारे पाससे कर लो और तुम्हें अपनी कान्ति को कायम रखने और बढ़ाने के लिए किये गये युद्धों में होमने के लिये हमारे शरीर चाहिए तो वे भी तैयार हैं। क्योंकि हमें तुम्हारे इस कथनमें विश्वास है कि "तुम जो कुछ कर कर रहे हो, वह हमारी रक्षाके लिए ही कर रहे हो।" हम तो तुम्हारा अचल राज्य और अपना अखण्ड 'तुकलो चोंटलो' चाहते हैं। और इसलिए तुम्हारी बिना शर्त वफादारी बतानेमें ही हमारा कल्याण है।

भक्त लोग गुरुओंसे कहते हैं कि हमारा धन ही नहीं किन्तु तन मन और आत्मा भी तुम्हें समर्पित है। तुम जो कहते हो वही हमारी नीति है। तुम जहाँ ले जाओ वहीं हमारा मोक्ष है।"

'और गौतम ऐसा बोलनेवाले लोकमयानीय हृदय तो पत्थरको भी ईश्वर बनाने के लिए तरसते हैं, यह उन विचारों को कहाँ पता है! इसीलिए कहता हूँ कि मैं गायोंसे नहीं बोलता और न ग्वालों से। मैं शिक्षा और बालकोंसे बोलता हूँ। और अपनी उत्पत्ति करने वाला दुनियासे बोलता हूँ। खरी बात तो यह है कि मैं ईश्वरको उत्पन्न करता हूँ।" इसलिए हे देव वल्लभ, मुझे उन गायों के विषयमें कोई विचार नहीं आया। और गाएँ भी जिन योनिमें सुखी होती, बहलती वे मेरे पास थी ही नहीं। यह देखकर गाएँ स्वयं अपने निवासकी ओर चली गईं। वे बिचारी गरीब गाएँ स्वयं ग्वालोंके बाड़ेकी तरफ चली गईं।

कुछ समय बाद वह ग्वाला एक गाय को साथ लिए हाँफता हुआ मेरी तरफ आया। गौतम, उसका चेहरा क्रोध से लाल हो रहा था। उसकी आँखें अग्निवर्षा रही थीं। उसके हाथ में दैत्य का बल आ गया था। उसने रस्सीका छोर मेरे ऊपर जोर से फटकारते हुए गरजकर कहा। उस

गरजना से आकाश के परदे भी फटने लगे।

'रे धूर्त, तू मेरी गायों को अपने बाड़े में छिपाना चाहता था दूसरे की सम्पत्ति चुराने में ही तू अपने अचौर्य व्रतको सार्थक मानता है?"

इसी समय आकाश में बादल घिर आये और उनसे एक प्रकाश निकला। उसमें इन्द्र अपने पूरे ठाठ में प्रकट हुआ और कहने लगा—"प्रभो, बारह बारह वर्ष तक आपके ऊपर आफतें आनेवाली हैं। मनुष्यकृत और देवकृत संकटों के बीच आपको बड़ा समय बिताना है। अतः मुझे अपने देह रक्षक रूप से रहने की आज्ञा दीजिए।"

इन्द्र आकाश में अधर खड़ा हुआ था। उसकी एक आंख मेरी तरफ थी तथा दूसरी आँख ग्वाले के ऊपर अग्नि बरसा रही थी वह आँख मानो कह रही थी कि यदि आज्ञा मिले तो एक क्षण में इसे भस्म कर दूं

मैं मौन रहा।

'प्रभो, मेरा धीरज टूट रहा है। यह उद्यत हाथ फड़क रहा है। और वज्र मस्ती से गिरने के लिए फड़फड़ा रहा है।" इन्द्र ने फिर कहा। और मैं खिलखिलाकर हँस पड़ा। इन्द्र, तुम्हारे वज्र में मस्ती है यह सन्तोष की बात है पर तुम्हारी भक्ति में विवेक कब आयगा। जरा बताओ तो? तू मदद करने आया है? किसको? किस लिए? किस प्रकार? किस कारण? और सहायता ? इन बातों का कुछ विचार भी किया है? तू मुझसे मदद स्वीकार करनेकी प्रार्थना करता है? पर इस प्रार्थना में ही मेरा सख्त अपमान भरा हुआ है। तू समझता है? मदद, सहाय, दया, रक्षण किसका? क्या मुझे 'बिचारा' मान लिया है? क्या तूने मुझे दुःख के सामने ही तड़प नेवाला मान लिया है? क्या मार, त्रास और कुदरती पीड़ादायक घटनाएँ बीमारी आदिमें, जिन्हें मनुष्य और देव भी हटाना चाहते हैं हमारी सुख शान्ति कोई अजीब प्रकारकी खूबी आनन्द और लज्जत नहीं देख सकती? ओ इन्द्र, समझ, तेरे वज्रसे अनन्त गुणी सामर्थ्य मेरी इच्छा शक्तिमें है। जिस गुप्त शक्तिको स्थूल रूपमें प्रकट करनेमें मुझे कोई रस नहीं है। आज मनुष्यमें शक्तिका खिलाव बहुत कम है। वह किसी भी तरह बढ़े यह देखनेमें ही मुझे खुशी है। यदि मनुष्य मेरे ऊपर आफत लाकर भी अपनी शक्तिका खिलाव करता है इसमें मुझे आनन्द ही आनन्द है।

"ओ इन्द्र सामनेके पत्थरके ऊपर उगे हुए पौधेपर निगाह डाल वह चारों ओर हरियाली छोड़ता हुआ कैसा खिल रहा है। दंग इसे किसने सिखाया? सख्त बरसात और आग सी किरणोंके सामने यह नाजुक पौधा अपनी रक्षाके लिए किन मनुष्य और देवोंसे कहता फिरता है?"

"ओ इन्द्र, यह समझ कि-'सहायता' की निरन्तर इच्छा करना यही मनुष्य का नरक है। सहायता करनेवाले जिसकी सहायता करते हैं उसका नुकसान ही करते हैं इस तत्वको मनुष्य तो क्या देव भी नहीं समझ सके हैं! तू मुझे 'जिन' और 'अरहत' को दीन, लाचार, परमुखापेक्षी पामर प्राणी बनाना चाहता है यह तेरे विचारमें भी नहीं आया। सहायता का मूल्य आँकनेवाले, तुम मेरी खोटी कीमत कर रहे हो! सहायता करनी है तो शक्ति बढ़ाने में मदद करो। दीन हीन बनाने और पराधीन बनाने के लिए सहायता न करो। स्वरक्षा और जय की शक्ति प्रत्येक जीवात्मा में है। उसे प्रकट करनेमें उसके विकासमें सहायता करनी हो तो करो, पर परोक्ष रीतिमें, दूर रहकर सूर्य की किरणों की तरह प्राकृतिक भावसे करो। आत्माओं की खरी सहायता यही है। इन्द्र, तू कितना ही बलवान क्यों न हो पर अभी भी तू सोने चांदीकी बेड़ियोंसे, सुख दुःखकी भावनाओंसे जकड़ा हुआ 'गुलाम' है। वासना का दास है। जो बंधनमात्रको हसता है, और वासनाओं को अपना उंगलीपर नाच नचाता है वह 'वीर' एक 'गुलाम' की सहायता चाहेगा या इच्छा करेगा? हा हा हा पर तुझे अभी इस असीम सत्यको समझनेमें समय लगेगा। हीरा और माणिकों से सजा हुआ तू इस 'नग्न सत्य' को नहीं समझ सकता। भला भाई, इस समय तू अपने स्थानको सिधार, मुझे अपना आनद अकेले ही लेने दे।"

'हे देववल्लभ गौतम, इन्द्र तो माथा झुकाकर अदृश्य हो गया, और मेरी दृष्टि के सामने वही क्रोधातुर ग्वाला था। यह सब क्षणमात्र में हो गया। उस ग्वाले ने न तो इन्द्र को देखा और न उस बातचीत ही सुनी। क्या दुनियाँ का कीड़ा देवों के दृश्य को देख सकता है! मेरे मौन ने ग्वाले की क्रोधाग्नि पर घी का काम किया। वह साँप की तरह फुँफकार कर रस्सी को मस्तक के चारों ओर घुमाते हुए बोला—रे पापी, दूसरे की गायें चुराते समय तुझे नरक का भी भय नहीं लगा।

मैंने उस समय ग्वालेकी ओर आँख उठा कर कहा—रे गुमानी, पाली हुई गायों को भी गुमाने वाला पामर, किस बल से तू मुझ एक पहाड़ी पुरुषको रोब दिखाता है! आराम ठग, शरम खा, शरम खा। तू अपनी कागज की तलवार को म्यान में रख। नहीं तो तू ही अधिक दुखी होगा। मुझे पहिचानता है? नहीं नहीं, जब तू अपने को ही नहीं पहिचानता तो मुझे क्या पहिचान सकेगा? पर तुझे इतनी खबर तो होनी ही चाहिए कि मैं किसी ग्राम में या सीमा में नहीं, किन्तु पहाड़ पर हूं। जहाँ 'बाड़ा' होता ही नहीं। और जहाँ गायों का दुर्लभ भी नहीं होती।

गरजना से आकाश के परदे भी फटने लगे।

'रे धूर्त, तू मेरी गायों को अपने बाड़े म छिपाना चाहता था दूसरे की सम्पत्ति चुराने में ही तू अपने अचौर्य व्रतको साधक मानता है !"

इसी समय आकाश में बादल घिर आए और उनसे एक प्रकाश निकला। उसम इन्द्र अपने पूरे ठाठ म प्रकट हुआ और कहने लगा—"प्रभो, बारह बारह वष तक आपने ऊपर आफतें आनेवाली हैं। मनुष्यकृत और देवकृत सकटों के बीच आपको बड़ा समय बिताना है। अत मुझे अपने देह रक्षक रूप से रहने की आज्ञा दीजिए।"

इन्द्र आकाश म अधर खड़ा हुआ था। उसकी एक आँख मेरी तरफ थी तथा दूसरी आँख ग्वाले के ऊपर अग्नि बरसा रही थी वह आँख मानो कह रही थी कि यदि आज्ञा मिले तो एक क्षण में इसे भस्म कर दू

मैं मौन रहा।

'प्रभो, मेरा धीरज टूट रहा है। यह उद्धत हाथ फड़क रहा है। और वज्र मस्ती से गिरने के लिए फड़फड़ा रहा है।" इन्द्र ने फिर कहा। और मैं खिलखिलाकर हँस पड़ा। इन्द्र, तुम्हारे वज्र में मस्ती है यह सन्तोष का बात है पर तुम्हारी मति म विवेक कब आयगा ! जरा बताओ तो ? तू मदद करने आया है ? किसकी ? किस लिए ? किस प्रकार ? किस कारण ? और सहायता ? इन बातों का कुछ विचार भी किया है ? तू मुझसे मदद स्वीकार करनेकी प्रार्थना करता है ? पर इस प्रार्थना में ही मेरा सब्र अपमान भरा हुआ है ! तू समझता है ! मदद, सहाय, दया, रक्षण किसका ! क्या मुझे 'बिचारा' मान लिया है ! क्या तूने मुझे दु ख के नामसे ही तड़प नेवाला मान लिया है ? क्या मार, त्रास और कुदरतकी पीड़ादायक घटनाएँ बीमारी आदिम, जिन्हें मनुष्य और देव भी हटाना चाहते हैं, हमारी मुक्त आँखें कोई अजीब प्रकारकी खुबी आनन्द और लज्जत नहीं देख सकती ? ओ इन्द्र, समझ, तेरे वज्रमें अनन्त गुणी सामर्थ्य मेरी इच्छा शक्तिमें है। जिस गुप्त शक्तिको स्थूल रूपम प्रकट करनेम मुझ कोई रस नहीं है। आज मनुष्यम शक्तिका खिलाव बहुत कम है। वह किसी भी तरह बढ़े यह देखनेम ही मुझे खुशी है। यदि मनुष्य मेरे ऊपर आफत लाकर भी अपनी शक्तिका खिलाव करता है इसम मुझे आनन्द ही आनन्द है।

'ओ इन्द्र, गगनचुम्बी पत्थरके ऊपर उग हुए पौधेपर निगाह डाल यह चारों ओर हरियाली छोड़ता हुआ कैसा खिल रहा है। देख इसे किसने सिखाया ? सख्त बरसात और आग सी किरणोंके सामने यह नाजुक पौधा अपनी रक्षाके लिए किन मनुष्य और देवोंसे कहता फिरता है ?"

"ओ इन्द्र, यह समझ कि–'सहायता' की निरन्तर इच्छा करना यही मनुष्य का नरक है। सहायता करनेवाले जिसकी सहायता करते हैं उसका नुकसान ही करते हैं इस तत्वको मनुष्य तो क्या देव भी नहीं समझ सके हैं! तू मुझे 'जिन' और 'अरहन्त' को दीन, लाचार, परमुखापेक्षी पामर प्राणी बनाना चाहता है यह तेरे विचारमें भी नहीं आया। सहायता का मूल्य आंकनेवाले, तुम मेरी खोटी कीमत कर रहे हो! सहायता करना है तो शक्ति बढ़ाने में मदद करो। दीन हीन बनाने और पराधीन बनाने के लिए सहायता न करो। स्वरक्षा और जय की शक्ति प्रत्येक जीवात्मा में है। उसे प्रकट करनेमें उसके विकासमें सहायता करनी हो तो करो, पर परोक्ष रीतिसे, दूर रहकर सूर्य की किरणों की तरह प्राकृतिक भावसे करो। जीवात्माओं का खरी सहायता यही है। इन्द्र, तू कितना ही बलवान क्यों न हो पर अभी भी तू सोने चांदीकी बेड़ियोंसे, सुख दुःखकी भावनाओंसे जकड़ा हुआ 'गुलाम' है। वासना का दास है। जो बंधनमात्रको हरता है, और वासनाओं को अपनी उंगलीपर नाच नचाता है वह 'वीर' एक 'गुलाम' की सहायता चाहेगा या इच्छा करेगा! हा हा हा पर तुझे अभी इस असीम सत्यको समझनेमें समय लगेगा। हीरा और माणिकों से सजा हुआ तू इस 'नग्न सत्य' को नहीं समझ सकता। भला भाई, इस समय तू अपने स्थानको सिधार, मुझे अपना आनंद अकेले ही लेने दे।"

'हे देववल्लभ गौतम, इन्द्र तो माथा झुकाकर अदृश्य हो गया, और मेरी दृष्टि के सामने वही क्रोधातुर ग्वाला था। यह सब क्षणमात्र में हो गया। उस ग्वाले ने न तो इन्द्र को देखा और न उसे बातचीत ही सुनी। क्या दुनियाँ का कीड़ा देवों के देव को देख सकता है? मेरे मौन ने ग्वाले की क्रोधाग्नि पर घी का काम किया। वह साँप की तरह फुँफकार कर रस्सी को मस्तक के चारों ओर घुमाते हुए बोला—रे पापी, दूसरे की गायें चुराते समय तुझे नरक का भी भय नहीं लगा।

मैंने उस समय ग्वालेकी ओर आँख उठा कर कहा—रे गुमानी, पालो हुई गायों को भी गुमाने वाला पामर, किस बल से तू मुझ एक पहाड़ी पुरुषको रौब दिखाता है? आत्म ठग, शरम खा, शरम खा। तू अपनी कायर की तलवार को म्यान में रख। नहीं तो तू ही अधिक दुखी होगा। मुझे पहिचानता है? नहीं नहीं, जब तू अपने को ही नहीं पहिचानता तो मुझे क्या पहिचान सकेगा? पर तुझे इतनी खबर तो होनी ही चाहिए कि मैं किसी ग्राम में या सीमा में नहीं, किन्तु पहाड़ पर हूँ। जहाँ 'बाड़ा' होता ही नहीं। और जहाँ गायों की दुर्गंध भी नहीं होती।

भोले, तू अपनी गायों से ही पूछ, क्या इस स्वतन्त्र खुली हवा में रह सकती है? सिंह और अवधूतों के निवास रूप इस पहाड़ी प्रदेश में 'बाड़ा' कैसा और 'चोरी' कैसी? चोरी की इच्छा रखने वाले ग्वालों ने ही ये 'बाड़े' बनाए हैं। तुमने भक्तों को चोरी में पाप बताया और चोरीमात्र का, केवल इतनी ही नहीं किन्तु बुद्धि स्वमान बल और साहसिक वृत्तिकी चोरी का अवसर भी तुम्हीं लाए। चोरीमें मिल सकने वाली तमाम वस्तुओं पर अपना अकेला अधिकार करके और उस धन्धे को निराबाध बनाने के लिए ही तुमने दूसरों को चोरी करने का निषेध किया। सारे सुख को अकेले ही भोगने की लालसासे ही दुनिया के दूसरे लोगों को चोरीमात्रमें पाप बताकर भड़काया और भयप्रेरित त्याग और सन्तोष में 'भविष्य का सुख' समझाया। सच पूछा जाय तो तुम्हीं दुनिया के खरे चोर हो। इतना होने पर भी दुनिया के रक्षक के रूपमें पुजने के लिए नित्य नये विकल्प उठाते हो।

पर मैं तो चोरी का भार पृथ्वीपर से कम करने आया हूं। और रस्सी बेड़ी तथा बाड़ेका सहारा करनेमें कभी कभी मजा लेता हूँ। गायके मांस पर जीवित रहनेवाली मक्खियों, तुम अपनी भद्दी भनभनाहट बन्द करो, तुम अपने बाड़ेकी दीवालें तोड़ दो, रस्सी और दण्ड जला दो और 'यह नहीं करो वह नहीं करो' इन निषेधों को 'हां' की सद्भावनामें बदल दो। यह समझ लो कि इन सब पाखण्डों का काल महावीर पैदा हो गया है। लौकिक धर्मोंकी जगह लोकोत्तर दिव्यताकी ज्योति जगानेवाला केशरी सिंह जन्म ले चुका है। यह जान कर चुपचाप गायों को मुक्त करो और अपना पुराना गन्दा खेल बन्द करो। अपनी मालिकीके पीछे मरनेवाले ग्वाले दूसरेपर मालिकी चलाने के पहिले खुद अपने ऊपर मालिकी चलाना सीखो। जो अपने ऊपर हुकम कर सकता है और स्वयं अपने प्रति नमकहलाल हो सकता है वही दूसरे पर हुकुम चलाने या उन पर सत्ता पानेका अधिकारी हो सकता है। 'जो अपने भीतरकी अनेक प्रथियों वासनाओं और शक्तियोंके साथ स्वयं युद्ध करता है और प्रत्येक संघर्ष में निखरे हुए अपने स्वरूप में आनन्द ले सकता है वही राज्य करने लायक है।"

'ओ ग्वाले तू मेरे सामने नजर कर, तू राजा है या गुलाम? मालिक है या मिल्कत? इस प्रश्न के विचार की भट्टी में तपकर तू अपने स्वरूप को प्राप्त कर।"

"ओ देववल्लभ, मैं अपना अन्तिम वाक्य पूरा भी नहीं कर पाया था कि वह ग्वाला जमीनपर गिर पड़ा और उसके शरीर के पुद्गल निकल निकल कर नए आकारको धारण करने लगे। देखते देखते ग्वालेकेशरीरकी जगह ऊंट दिखा। वह अपनी पीठपर मानो भार लादनेको कह रहा था। वह ऊंट चलने

गया। थोड़ी दूर गया होगा कि वह रूप पलटकर गरजता हुआ सिंह बन गया। देखते ही देखते सिंहने बालकका रूप धारण कर लिया। गौतम, वह बालक भी हसता हसता अदृश्य हो गया। मेरे सामने मात्र पर्वतकी शिखरें और त्रिविध तापको हरनेवाले अपना विकास स्वय करनेवाले और अपने आनन्दमें मस्त डोलनेवाले वृक्षोंके सिवाय दूसरा कुछ नहीं रहा।

आप बीती घटना पूरी हुई पर गौतमने इसका मर्म नहीं समझा। तब महावीरने गौतमसे फिर कहा–देवबल्लभ तू समझा! मनुष्यमात्र इन तीनों दशाओंसे गुजरता है।

"गौतम, ऊँट जिस तरह जितना चाहे और जैसा चाहे बोझा अपनी पीठ पर लदवानेको स्वय बैठता है और दूसरे का बोझा ढोनेमे ही मरदानगी और 'सद्गुण' मानता है उसी तरह मनुष्य पहिली अवस्थामें सभी मनुष्यकृत कायदा, कानून, विधान, स्मृतियां, शास्त्र नीति और रीति रिवाजके बोझेको अपनेऊपर लदवानेमे और इस बोझेको ढोने में ही मरदानगी मनुष्यता सद्गुण और किस के लिए बोझा लादा जा रहा है और किस रूप रग और स्वादका यह बोझा है?

"परन्तु ओ देवबल्लभ, ऊँट जिस समय पीठपर बोझा लादे दौड़ता जाता है और चारों तरफसे गरम युद्ध क्षेत्र में जा पहुँचता है तो मस्ती सीखता है और सिंह बन जाता है। जिस पराये बोझे को बार बार ढोना या उसे उठाने से इनकार करता है। और बोझेके सिवाय स्वतत्र जीवन बिताने की आवश्यकता उसे पहिले पहिल मालूम होती है। बोझे का त्रास और एकान्त स्थान ये दोनों उसे उसमें स्वातन्त्र्यका भान कराते हैं। 'यह नीति' यह अनीति' 'इस तरह चल, इस तरह नहीं' 'अपना हित निश्चय करने का अधिकार उसे नहीं है' आदि विधि निषेधोंके आधीन रहने को अब वह तैयार नहीं होता। वह पुरानी कीमतोंको तोड़ने के लिए सिंह बन जाता है पर नये मूल्य उत्पन्न करनेका योग्यता अभी उसमें नहीं आई।"

"देवबल्लभ, अब वह बालक बन जाता है। जो सिंह नहीं कर सकता वह बालक करेगा। बालक निर्दोषताका अवतार है। अतीतकाल और अतीत काल की गुलामियोंका उसे स्मरण ही नहीं, इसीलिए उसमें निर्दोषता भी है निडरता भी। भविष्यके सम्बन्धमें वह सकल्प विकल्प रहित होकर आनन्द स्वरूप है। बालक नई जिंदगी है, नया खेल है, पहला प्रवृत्ति है, जीवनयज्ञ का पवित्र विधान है, किसीकी इच्छाके पीछे खिंचता नहीं, स्वय अपना अनुस रण करता है। यह निर्दोष निर्विकल्प और निडर प्रवृत्ति, प्रत्येक वस्तुको उसके हित और नुकसानमें उसकी कीमत देनेमे आग्रही होती है। इसका उत्साह आग्रह और आत्मश्रद्धा अटूट होती है।"

"और गौतम, यदि तू अभी तक बालक नहीं बन सका तो 'वीर' कहाँसे बन सकेगा। ओ देववल्लभ, अपनी निडरता और अपना आनन्द जैसे बालकका स्वाभाविक है वैसा तेरा है क्या?"

"ओ गौतम, कहो, अब तुम्हारा मेरा हाथ पकड़ने की नादानी छूटी या नहीं? अब तुम अपने स्वरूपका विश्वास कर सके हो? तुम्हें अपनी खानदानियतका भान हुआ? कहो, झट पट कहो।"

भक्तिपरायण गौतम दीनतासे बोला— "प्रभो कृपानाथ, मुझे ज्ञानकी गहरी बातोंकी घबराहटमें न डालो। मुझे तो आप गुरुदेवकी शरण, दया और सहायता चाहिए।"

महावीरने सोचा और फिर सोचा और मनमें ही कहा— मेरे इन शब्दोंसे इसे ज्ञान आता नहीं दिखता। 'आशा के केन्द्रकी ओरसे एक जोरका तमाचा जबतक मनुष्यको नहीं लग जाता तब तक मनुष्य आशाकी गुलामीसे मुक्त होकर स्वावलम्बी नहीं बन सकता।' मेरा वियोग ही इसे अपनी आँखोंसे देखनेवाला और अपने पंखोंसे उड़ने वाला बनायगा। मेरी सहायता माँगने की कुचिरट यह कल पछतायगा और अपनी इस दीनवृत्तिकी निन्दा करेगा। और इसी पश्चाताप और स्वनिन्दाकी अग्निमें तपकर गौतम सर्वशक्तिमान होगा।

हुआ भी वही। महावीरके निर्वाण के बाद गौतम महादुःखी हुए और इसी महादुःखने बादलोंसे ही स्वरूप बोधकी ज्योति प्रकटी और वे केवली हुए। उसी समय गौतमका जयघोष हुआ, इसी समय गौतमने शत्रुंजय गिरिसे उच्च शिखरसे महावीरके सिखाए वचनामृतोंका जयनाद किया। वे वचन आज भी शत्रुञ्जय गिरिपर सुनाई देते हैं—

"पुरिसा, तुममेव तुम मित्त
किं बहिया मित्तमिच्छसि"

पुरुषो, तुम ही अपने मित्र हो, क्यों बाहर मित्र ढूँढ रहे हो?

"जे एग णामे से बहु णामे,
जे बहु णामे से एग णामे"

"जो अपनी आत्माको नमाता है वही सबको नमाता है। और जो सबको नमाता है वही एकको नमाता है।

"सव्वतो पमत्तस्य भयं,
सव्वतो अप्पमत्तस्य णत्थि भयं"

प्रमादीको चारों ओर भयही भय है। अप्रमादी (जाग्रत आत्मज्योति वाले) को कहीं भय नहीं।

"समयं गोयम मा पमायए"
गौतम, क्षणमात्र भी प्रमाद न कर
"सम्मत्त दंसीण करेति पावं"

सम्यग्दृष्टि पाप नहीं करता। इसकी क्रियाएं निर्जराका कारण होती हैं।

सपूर्ण मानवता के प्रभापूर्ण प्रतीक की भावभरी कहानी

श्रमण अमिताभ

श्री शिखरचन्द जैन

(१)

पद्मनाम को कौन नहीं जानता। वह सबसे परिचित है, और उससे सब। सो एक दिन उसने देखा जीवराज, कुबेर धन, रत्नप्रभा, बुद्धि, सूर्य मल्ल आदि बालक बालिकाएँ—राज्योद्यान में खेल रहे हैं। उन्हीं के बीच एक बालक अमिताभ भी खेल रहा है।

जीवराज जरा नटखट था। रत्न प्रभा मोजी, कुबेर चंचल, बुद्धि तीव्रगति और सूर्यमल्ल हसोड़ा और अमिताभ पर ही पद्मनाम का ध्यान उस दिन बार बार खिंच जाता था। खेलते खेलते जीवराज कुए के पाट पर जा पहुंचा। वहाँ पहुंच उचक उचक कर विनोद व्यंग बाण छोड़ने लगा। उसने अमिताभ का ध्यान भंग करने के लिये उसे ककरियें मारना शुरू किया, और जब अमिताभ का ध्यान उस ओर न गया तो उसने चिल्लाकर एक बड़ी ककरी चलाई। पर यह क्या जीवराज कुए में था। बालकों ने देखा वह पानी से युद्ध कर रहा है। वे चीखे, चिल्लाये, तब कहीं अमिताभ को भी मालूम हुआ कि जीवराज कुए में गोते लगा रहा है। बालक घबराये इधर उधर देख रहे थे, और अमिताभ ने देखा, समझा और कुए में कूद गया। जीवराजने उसे जकड़ लिया। उसने उसे अपने कंधों पर चढ़ाया, और फिर बालकों से बड़ों को कहने और रस्सा लाने को कहा। बड़े आये रस्सा आया। अमिताभ के कंधों पर चढ़ जीवराज बाहर निकला।

यह था अमिताभ। एकदिन फिर सब बालक खेल रहे थे। बुद्धि सबसे आगे दौड़ने में निकल जाया करता था, पर आज सबने उसे हराने की सोचली थी दौड़में जब वह आगे बढ़ता, कोई बालक उसे धक्का दे देता, कोई उसके सामने आ जाता, कोई उसे गिरा देता। उस दिन न वह खेल पा रहा था और न आगे ही बढ़ पाता था। सब चाहते थे कि अमिताभ सबके आगे रहे। आज वह आगे था। पर जब वह दौड़में अधिक आगे पहुंचगया उसे लगा कि वह तो अन्याय कर रहा है। इस स्थल तक तो बुद्धि को आना चाहिये

था। धुङ्कि पीछे रो रहा था। उसने अपने भीतरी नेत्रों से देखा, उसने बालकों की स्थिति को समझा, और पद्मनाभ ने आश्चर्य से देखा वह पीछे की ओर दौड़ रहा है लक्ष्य हैरान हैं। वह धुङ्कि को उठाकर भागने लगा है, और गन्तव्य स्थान के पहले उसे धवल पर आगे कर दिया है।

अमिताभ के पिता विदेश गये थे। वे उसके लिये मणि कंकण लाये हैं। माता उसे पहनाकर बड़ा प्रसन्न है। मणि कंकणों से युक्त अमिताभ देवपुत्र सा चमकता है। वह खेलने खेलते बाहर निकला है। रास्ते में उसे रत्न प्रभा मिली है। उसने ललचाई दृष्टि से आप अमिताभ को, व उसके आभूषण को देखा है। वह उससे बहुत छोटा है। उसने कहा "अभी तुम कितने अच्छे लगते हो। तुम्हारे कंकण तो चमकते हैं। मेरे बापू जब दूर जायेंगे, ऐसे ही कंगन लायेंगे न!"

"हां रत्नू। लायेंगे तो। और तब हम दोनों के पास कंगन होंगे।, ऐसा कहकर उसके साथ वह खेलने लगा। पर अमित का मन कचोट रहा था। उसके कंकण उसे भारी लग रहे थे। वह खेलता रहा, और फिर उसने कंगन उतार कर रत्नू को पहना दिये। उसे पहनाकर वह बड़ा खुश हुआ। उसे लगा उसकी आत्मा का बोझा हल्का होगया है। वह और खेला। उसने अपने सहयोगियों को देखा। उसे लगा फिर भी कहीं कुछ कमी है। उसका मन रह रह कर उसे छेड़ रहा है। उसने देखा कंगन अब केवल रत्न प्रभा के ही पास हैं,। दूसरों के पास नहीं। उसने सोचा, "रत्न के पास ही क्यों हों? और क्या जीवराज, धुङ्कि, सुयमल्ल सब इनके बिना ही रह जायें? क्या ये कंगन इन्हें अच्छे न लगेंगे? ये सब मुझसे किस बात में कम हैं,,? और फिर पद्मनाभ ने देखा कि अमिताभ खेल नहीं पाया। घर पर उसने पिता से पूछा "बापू तुम दो कंगन ही क्यों लाये? अब जाना तो सबके लिये दो दो लाना।"

(२)

पद्मनाभ ने फिर देखा कि अमिताभ हिम उपत्यका के एक सुन्दर गुरुकुल में प्रविष्ठ किया गया है। गुरुकुल उद्यानों और उपवनों के मध्य में है। पास ही एक धनाटवी है। यो वह अमिताभ अपनी आभा से गुरुकुल को प्रकाशित कर रहा है। प्रात काल अन्य छात्रों से पहले जागता है। गुरुदेव और गुरुमाता को नमन और उनके चरणों की अभिवंदना करता है, नित्य क्रियाओं के उपरान्त अध्ययन करता है। प्रात वायु सेवनार्थ वह गुरुजी व सहपाठियों के साथ ही जाना ठीक समझता है।

उसके अध्ययन का क्रम जारी है। वह जितना पढ़ता है, उससे अधिक पढ़ाता है। अपने कमजोर साथियों को।

सहायता करता है। क्या होगया है। उसे? अमिताभ न रुकना जानता है, न प्रमाद करना। उसने जैसे अभी से जीवन का लक्ष्य स्थिर कर लिया है। सेवा सहायता उसके मनोरंजन के मुख्य कार्य हैं।

कान्तिदेव सब विषयों में कमजोर है। गुरुजी—बार बार उसे अधिक अभ्यास के लिए प्रेरणा करते हैं। वह भोला, अच्छा छात्र है पर उसे पाठ कम स्मरण रहता है। पर वह अमिताभ ही है जो उसका साथ बना हुआ है। अन्य सहपाठी उसका मज़ाक उड़ाते हैं, उसे तंग करते हैं, पर अमिताभ उसे बौछारों से बचाता है, । सदा उसके साथ रहने की चेष्टा करता है। उसने भूले हुए अभ्यास को बार बार स्मरण करवाता है। स्थूल काय होनेसे जब उसका काम कम हो पाता है तब अमिताभ उसमें भी उसका साथी बन जाता है। जब वह वाग्बाणोंका शिकार होता है, अमिताभ सूझ-बूझ और नम्रता से, बिना किसी पर प्रहार किए रक्षा करता है। और अमिताभ का कोई अमित्र नहीं। कान्तिदेवके लिए जो वह है वही वह सबके लिये है समानरूप। हृदय की पूरी सचाई के साथ। प्रति दिन का उसका यही क्रम है, यही चर्या है। ऐसा वह है। ऐसाही वह रहता जारहा है।

पर हाँ प्रभाकर भी है, कुशाग्र, मेधावी, कुशल, बलिष्ठ, कार्य तत्पर, गुरुसेवानिष्ठ, गुरुप्रिय, सब विषय पारगत। इस प्रभाकर की अपनी टोली है। वह उसका सेनापति है वह उसकी गुरु साधना से रक्षा करता है। वे सब उसकी सेवा करते हैं उसके आदेश की प्रतीक्षा करते हैं। जब जब अवसर आये हैं रघु, कौमुद, नंदन, घोष सब की सेवा सहायता उसने की है। और प्रभाकर ने उनकी खबर पूछी है उनके दोषोंके लिये डाटा है और रोगों के कारण ढूँढने की चेष्टा की है, और यहां उन्हें दवा दी है, और वह अमिताभ है जो इनकी ज्यादती जिनका सामना उसे आये दिन करना पड़ता सह जाता है हँसकर भूल जाता है,वह सदा ऐसा करता है, सदा करता रहता है। उसकी भौंहें टेढ़ी नहीं होतीं,उसके शिरपर बल नहीं आता, उसकी आँखें भरभराना नहीं छोड़तीं, उसका मन सेवा सहायता से मुँह नहीं मोड़ता। ऐसा वह बना हुआ है और रहेगा, ऐसा है उसका दृढ़ निश्चय।

पर प्रभाकर उससे डाह करता है, रघु कभी उसे वन्यपशु भयावह अटवी की गहनता में छोड़ आना चाहता है। कौमुदकी तो तीव्र इच्छा रही है कि फल तोड़ते समय अमिताभ ऊँचाई से गिरे, उसकी टांग टूटे और वह हँसे। नंदन सोचता कि अमिताभ किसी दिन नदीके प्रवाह में अवश्य बह जायगा। या कोई

मगर मच्छ उसका अवश्य भक्षण कर लेगा। और यदि ऐसा नहीं होगा तो वह स्वयं किसी दिन कुएं से गहरे पानी में उसे खींच कर उस पार निकल जायगा। और शेष सदा उसकी कम जोरियों, छिद्रों और दोषों की ताक में रहता। यह किसी दिन इन्हें पा-जाता तो उसे इतनी प्रसन्नता होती कि रंक को कुबेर के कोष मिलने पर भी शायद न होती, और उसे तो जैसे स्वर्ग ही मिल गया हो।

अमिताभ था, प्रभाकर था, और ये सब थे, गुरुकुल का जीवन क्रम चल रहा था।

सो एक दिन पर्व-स्नान आया। आचार्य और कुलपति के साथ सब बटु गंगा-स्नान को पहुँचे। भीड़ अधिक थी। गुरुकुल के छात्र मंदिर में स्थित पांथ शाला में ठहरे थे। वहीं की ऊंचाई से गंगा माता के दर्शन होते थे। प्रात काल का समय था। अमिताभ छत पर से गंगा माता की मनोहर साकार प्रतिमा देख लुभा रहा था। उसने देखा उसके अनेक साथी नदी में किलोलें कर रहे हैं, तैर रहे हैं, खेंच खांच रहे हैं। पर यह क्या नन्दन धारा के मध्य प्रवाह की ओर कुछ साथियों के साथ निकल गया है। वह माता के वक्ष पर चढ़ा उस पार जा रहा है। अमित देख रहा है, ऊंचाई के कारण उसकी दृष्टि बड़ी व्यापक विस्तार पूर्ण हो गई है। वह देख रहा है, जहां तक देख सकता है। उसने एक मगर को नन्दन का पीछा करते देखा। नन्दन को कोई ध्यान नहीं। उसके साथियों में से कुछ ने उसकी लम्बी डाढ़ों को देख लिया है। वे भाग रहे हैं। नंदन की उन्हें कुछ सुध नहीं रही है। और वे नन्दन के लिये अपने प्राणों की बलि देने को प्रस्तुत नहीं। अमिताभ ने देखा। उसने स्थिति की गम्भीरता को समझा। अब समय शेष न था वह छत से ही गंगा माता की धारा में कूद गया। कुछ समय तक तो उसका पता न था। वह अब पानी से ऊपर दूर पर निकला है नन्दन घबरा रहा है। मगर से दूर भाग रहा है। अब मगर ने नन्दन के पांवों पर को पकड़ लिया है। अमित मगर के पीछे है। उसने उसे ललकारा। मगर ललकार सुनकर सहम गया है। वह नन्दन को खींच भागना चाहता है। अमित ने उसे रोक लिया है। उसके पैरों को पकड़ लिया है। वह उसे नीचे उसके पेट में चोटें कर रहा है। मगर दो तरफ से खिंचा रहा है। वे दोनों दूसरे तट की ओर पहुँच रहे हैं। कम गहरे पानी में मगरराज व्याकुल हो गये हैं। अब वे नन्दन से अधिक अमिताभ पर कुपित हैं। अमिताभ उसकी मनोदशा को समझ गया है। उसने नन्दन को झटका देकर भाग

जाने को कहा है। नन्दन ने ऐसा ही किया है। वह भागना नहीं चाहता, पर प्राणों का मोह। कृतज्ञता के नियमों को तोड़ वह आगे व किनारे पर पहुंच गया। अब अमिताभ ने मगर को पीछे के पैरों से एक ओर ठेल दिया है। इसके पहिले कि वह पीछे मुड़े। अब वह भी किनारे पर है। थक गया है। बेहोश सा होकर गिर पड़ा है।

फिर एक दूसरे दिन की बात है। वर्षों बाद गुरुकुल के छात्र तीर्थाटन को निकले हैं। उन्होंने काशी देखी है। वे मथुरा देख चुके हैं। वे शिप्रा दर्शनार्थ उज्जयिनी की ओर चल पड़े हैं, उनमें आनन्द, उत्साह और उमगें हैं। साल दो साल में वे गृहस्थ जीवन में प्रवेश करेंगे। एक महान गौरवशाली राष्ट्र के नागरिक होंगे तपस्या की आग में तपा सोना बनकर वैभव और लोक व्यवहार की सीमित परिस्थितियों में अपने को सुखी और सन्तुष्ट समझेंगे।

मार्ग विन्ध्याटवी में से होकर जाता है। वे समवेत स्वर में गाते पंक्तिबद्ध होकर जा रहे हैं। पाठशाला अभी दूर है। सन्ध्या हो रही है। उन्हें शीघ्र गन्तव्य स्थान पर पहुँचना है। गुरुजन पीछे रह गये हैं। और ये निश्चित, पुरुषार्थी, निर्भय, भारतीय नवकुमार हैं जो अग्नि में कूद सकते हैं। अम्बुधियों को पार करने का हौसला रखते हैं। आज वास्तविकता की छाती को भी गहन अरण्य के पार कर रहे हैं।

आचार्य ने कुछ दूर पर एक सिंह शावक को ऊँची चट्टान से लुढ़ककर नीचे गिरता देख लिया है। अब उनका दयार्द्र मन नहीं मानता। वे जानते हैं पास ही वहीं सिंह परिवार भी अवश्य होगा। उन्होंने सहयोगियों से आगे बढ़ने का आग्रह किया है। और वे उस खड्ड में उतर रहे हैं उनके सहयोगी पहले तो स्तम्भित हो खड़े रह गये हैं पर पीछे सतर्कता से साथ कुछ दूर पर उनके पीछे हो लिये हैं। उन्होंने टोली को रुकने का आदेश दे दिया है।

आचार्य सिंह शावक के निकट पहुंच चुके हैं। वह चेतनत्व हीन पड़ा था। गुरुजी ने उसे औषधोपचार द्वारा सचेत किया है। सचेत होते ही अपने को मानव कर स्पर्शित पा वह क्षोभ उठा है। दहाड़ उठा है। आचार्य को खरोंच चुका है। उसकी मा जो उसे ढूंढने निकली थी, उसकी चीख को सुन चुकी है। वह उसी ओर लपकी है। पर भीड़ भम्भड़ को देख कर रुक गई है। सिंहराज भी दहाड़ मारता आ पहुंचा है। वह गोल पर टूट पड़ना चाहता है, पर अग्नि शिखायें उसे भयभीत कर देती हैं। अब उनका शिशु उन्हें मिल गया है। व लौट रहे हैं। आगे बढ़ एक झाड़ी में छिप गये हैं। तीर्थ यात्री भी अपने मार्ग पर शीघ्र आगे बढ़

रघु थक गया है। लंगड़ा गया है। सब अस्त व्यस्त हो आगे बढ़ रहे हैं। सब साहसी कुछ प्रकृतावस्था से भयभीत हैं। रघु पिछड़ जाता है। क्षिप्रगति अमिताभ भी पिछड़ जाता है। वह रघु के भी पीछे धीरे धीरे चल रहा है। वह रघुकी दयनीय परिस्थिति को समझ गया है। भयभीत रघु अमिताभ के पीछे हो जाने से सम्भल गया है। उसका शैथिल्य कम होगया है। झाड़ी में दूर सिंह दहाड़ता है। रघु शक्ति बटोर दौड़कर साथियों में मिल गया है। और वह अमिताभ निर्भय मंद गति से चल समूह में मिल गया है।

(३)

पद्मनाभ ने देखा अब अमिताभ गार्हस्थ्य जीवन म प्रवेश कर रहा है। इच्छा तो उसकी सारा जीवन ही गुरु कुल में व्यतीत करने की थी किन्तु घर पर माता का स्वर्गवास हो गया था। पिता जीवन की दौड़ में थक गये थे। उन्हें अ तिम लक्ष्य अमित को मार सौंपने ही में दिखाई देता था। और उसकी घर वापिसी के पहले ही उन्होंने उसके विवाहार्थ कन्या तलाश ली थी।

अमित को गुरुकुल छोड़ना पड़ा। घर जाना पड़ा। गृहस्थी समालना पड़ी। विवाह करना पड़ा। जन्म जात सन्यासी को गार्हस्थ्य जीवन के प्रवेश द्वार पर माया के स थ बंधन मिले, मोह मिला।

और अब पद्मनाभ ने देखा निर्मोही अमिताभ को गार्हस्थ्य शकट में मोही बना देखा। वह पत्नी को चाहता था या नहीं इसे तो पद्मनाभ अभी तक नहीं समझ पाया, पर पत्नि को प्यार करते, उसकी आकांक्षाओं को पूरी करते भी उसने देखा। अमित अपने बचपन से ही शिशु बालक प्रिय था। उसको ये प्रभु के वरदान के समान, ये प्यारे थे। पर स्वत इनकी आकांक्षा से रहित था पर उसका विवाह हुआ था, उसकी पत्नि थी। ससार की स्वाभाविक गति में वह पिता बना और जो यह क्रम चला सो चलता चला गया। उसने अपनी सतति को भरपूर प्यार दिया। अपना विकास दिया। अपनी आकांक्षाये भेंट की और इसप्रकार वह जीवन क्रम में आगे बढ़ता रहा। पींजरे में बन्द पक्षी के समान फड़ फड़ाता रहा।

राष्ट्र की पुकार आइ, वह सैनिक बना। समाज ने उसे कसा वह सोना निकला। मन ने नागरिकता का तकाजा किया। उसके समक्ष उसने अपना सिर झुकाया। काम में आग शोहरत म पीछे वह अपने को ठेलता रहा

एक दिन एक साधु आया। पानी म भीगा, ठड से ठिठुरा उसने अपना कम्बल उठाया और उस साधु को दे दिया। पत्नि चाखी, नाराज हुई, समझाया। पर अमिताभ ने इसीबातपर

ठ ड, बिना कम्मल निकाल दी।

उसके मित्रों ने बसन्तोत्सव मनाया। अमिताम भी शामिल हुआ। उनमें एक बाहरी मित्र भी मिल गया, वह लुट गया। अब क्या करें वे! कौन सहायता करे उसकी। जयन्त महाराजको पुत्र का यज्ञोपवीत करना था; सुमेरसिंह को अपनी कन्या का विवाह। धनदास को वाणिज्यार्थ—विदेश जाना था। और अमित को—उसे तो कुछ भी नहीं करना था उसके पिता की एक निशानी थी-स्वर्ण-मुद्रिका। इसलिये अमितने जानना चाहा मित्रता कष्ट उससे दूर हो सकता है क्या? मित्र निहाल होगया। वह उसका मूल्य लौटा देगा। वह मुद्रिका उसके मित्र के साथ चली गई, फिर कभी वापिस नहीं लौटी।

और उसकी पत्नि ने कहा देखो। म क्या समाज में नंगी रहूँ? और अमिताम पत्नि को स्वर्ण से ढंकने म जुट गया। उसने न दिन देखा न रात, न सुख देखा न शान्ति। न उसने मित्र देखे न मनोरंजन। पत्नि की लालसा सुरसा के समान बढ़ती गई और वह घावों को सहलाता रहा। अब उसकी पत्नि स्वर्ण मण्डित है। पर सन्तुष्ट नहीं। अमितामने पीछे फिर कर देखा वह लुट गया है, झुलस गया है, उसने पत्नि की ओर देखा, सोचा वह मुस्करा दे। प्रेम और प्रसन्नता की एक सांस ले ले। पर पत्नि की भौहों में वक्रता, वाणी में कटुता और आचरण में निर्ममता थी। और मृगराज का कौतुक अमिताम एक बारगी ही सहम गया, भाग चला। भागा जहाँ तक उससे भागते बना। पर दूर जाकर उसने सोचा उसकी संतान उसका मार्गावरोध करने लगी। जिनदास ने कहा बापू मैं क्या करूं गा? अजितदास ने कहा, बापू इतने निर्मम न बन जाओ। सुशीला ने आँखों में आंसू भर मौनता में अपना भविष्य दिखाया। कान्ति का भोला मुखड़ा, निर्मल की तिरोहताने उसके हृदय को कचोटा। और अमिताम अब रुका। पीछे लौटा। मित्रों ने मजाक उड़ाया। पत्नि ने भर्त्सना की, व्यंग बाणों से बिद्ध किया। पड़ौसियों ने अपने वार किये। पड़ौसियों ने कारिंदों ने देखा और कायरता ने आरोप लगाये। अमिताम ने देखा, चारों ओर देखा। उसने अपनेसे कहा, ठीक है। मेरा वक्ष निरवरण है। आने दो तीरों को। 'तीर आये' उन्होंने अपना काम किया। अमिताम सीना तान खड़ा हो गया।

रामदयाल ने कहा "अमिताम, पागल न बनो। धन कमाना हो तो यों कमाओ।" मुसकराते मार्गदर्शन करते हुए कहा। "अमित बाबू तुम भी क्या सत्य और ईमानदारी के पीछे हाथ धोकर पड़े हो। जीवन और विश्व में "असत्य" ही सबसे बड़ा 'सत्य है,। 'व्यावहारिकता ही सबसे बड़ी प्रामा

धिकता है।" और चक्रधरने कहा "भाई दबे दबे तो इस शताब्दी में काम नहीं चलेगा। आगे आओ, चिल्लाओ, चीखो, ! तभी कीर्ति के वितरक ये महा प्रभु तुम्हें अपना घर देंगे।" और लोग अमिताभ को मिले। किसी ने बड़ों की बातें की, किसी ने शक्ति सम्पन्नों की। पर यह अमिताभ है, जो अन्तरमुख है। उसके चारों तरफ फीकापन है। वह जान गया है, ! उसे जाना है। और उसे इसीप्रकार जाना है। इसीलिए वह जा रहा है। उसका जीवन वही है जो था। उसने दिया ही दिया, और जब लेने का अवसर आया उसे सारे द्वार बन्द मिले। उसे उठी हुई महफिल मिली उसने सेवा की, साधना में वह गला।

अब पद्मनाभ और अमिताभ ने आत्म-कल्याण विश्व कल्याण का मार्ग पालिया है। नगर उसकी सेवा का क्षेत्र है, अरण्य उसकी साधना का नगर में अब उसका कोई स्थान नहीं है, अरण्य म एक छोटी टूटी कुटिया। नगर उसकी क्रिया शीलता का प्रतीक है। अरण्य उसके चिरतन सत्यों की शोधशाला। अब उसने जीवन के रहस्य को, विश्व की गुत्थियों को, साकेत, निर्वाण, मोक्ष को समझ लिया है। उसने अधकार में प्रकाश प्रकाशमें अधकार की परिधियों को देख लि ा है। वह है और सारे विश्व के सूत्र उसके हाथों में है। वह अब जैसे हलका होगया है, ऊंचा उठ रहा है। है। उसकी दृष्टि व्यापक होगई है। जैसे सब उसके अपने हैं। वह अब साधू हो गया है, पूर्ण मानव होगया है।

अमिताभ अब भ्रमण को निकला है। युग चक्र फिर गया है। वस्त्र तो जैसे उसके शरीर पर हैं ही नहीं, क्यों कि उसने कभी चिन्ता नहीं की, इसी लिये सबका पहचाना—वह सबका अपहिचाना हो रहा है। वह चाहता है कोई उसे देखे न, पहचाने न, वह चोर सा बढ़ता है। वह तो अपना सेवा स्थान, कर्म स्थान ढूंढ रहा है, जिसे अन्यों ने त्याग दिया है।

नगर में हरिजन आंदोलन चल रहा है। हड़तालें हो रही है और वह छगू, मगू, दुक्खू, रमिया, लच्छी की कुटिया में घरों म पहुंचा है। छगू का पैर लँगड़ा गया है। वह प्रतिदिन मालिस करने आता है। मगू को फोड़े ने घाव कर दिया है, वह मरहम पट्टी कर जाता है। दुक्खू की नन्हीं बिटिया मरणासन्न है वह उसकी सेवा सुश्रूषा कर रहा है। उसे धीरज बधा रहा है। रमिया का पति शराब पीकर उस पर अत्याचार करता है, तब अमित उसे समझाता है। लच्छी सड़ रही है, उसके पास कोई नहीं जाता पर अमिताभ उसे स्वच्छ रखने की भरसक चेष्टा करता है।

आज अमिताभ मजदूर बस्तियों की ओर निकल गया है। वहाँ बड़ा उत्तेजित वातावरण है। महामान्य नेतागण आये हैं और उन्होंने उनको सच्ची स्थिति बताकर सचत कर दिया है। उनमें प्रतिकार की भावना भर दी है। उनकी, उनके बालकों की शिक्षा का प्रबंध कर लिया है। उनके स्वास्थ्य के लिये व्यायामशालायें स्थापित करवा दी हैं। पर लछमन के कमरे में तेल के न होने से आज अंधेरा है। सुमरन को आज माँगे से ज्वार भी नहीं मिली है। और वह भूखी ही सो गई है। हरि की पत्नि बीमार है। अस्पतालों ने जगह नहीं दी है, क्योंकि उससे सरीखे अनेकों पहले से स्थान पागये हैं। अब दयालु सरकार, बजट बढ़ सरकार जब अस्पताल बनवायेगी तब उसकी पत्नि को शायद स्थान मिल सकेगा। गोपाल अपनी झोंपड़ी में कराह रहा है। सब निकलते हैं पर मरे मंदे हैं, देखते हैं बोलते हैं, सेवा सहायता करना चाहते हैं, आगे बढ़ जाते हैं। और अमिताभ है जो घने अंधकार में कभी कभी अपने प्रकाश की किरणें छोड़ जाता है। चुपके स शान्ति से, बिना पहिचाने। और वह मध्य वित्त लोगों में जाता है। वहाँ उसे खाला पन, अभाव दिखता है, उसमें वह अपने को भर देता है। इनमें कोई उसे अच्छा कहता है कोई बुरा। और वह अमिताभ है अभाव रहित अट्टालिकाओं की ओर भी निकल जाता है। तब वे सहम जाते हैं, डर जाते हैं, शंकित होजाते हैं। कोई उसका मजाक उड़ाता है। कोई उससे घृणा करता है। कोई उसे अपना शत्रु समझता है। पर अमिताभ है जो नगर की गन्दगी साफ करता रहता है।

और अब वह अपनी अरण्य स्थित कुटिया में है। मृग छौने उससे हिल गये हैं। शशक उसकी कुटिया के निकट आ जाते हैं। चिड़ियें चें चें करती अमिताभ के सिर पर मँडराती रहती हैं। कलरव शील पक्षी उसके आस पास हैं। पक्षिराज और मयक अन्यत्र चले गये हैं। मृग हैं, दूर पर मृगराज भी, पर निर्वैर। स्वाभाविक क्षुधा से अधिक किसी को नहीं चाहिये। सुदर सरोवर पर सुरम्य प्रकृति के वक्ष पर किलोलें करते हैं।

और कोई पाथ अवतब भटककर अमिताभ की कुटिया म आ जाता है तब, सेवा, शुश्रूषा और आतिथ्य पाता है। उसकी कुटिया सबकी कुटिया है। रथारूढ़ोंने उसमें प्यास बुझाई है, टूटे पहिये और टूटी टाँगे ठीक की हैं। सैनिकों और सेनापतियोंने अपनी क्रूरताओं को इसमें भुला है, गलाया है, और वे निखरकर यहाँ से निकले हैं। नराधिप भी यहीं से गुजरे हैं, विजयी भी पराजित भी। विजेताओं के मान इसके

निकट मोम के पुतले बने हैं और परा जिनों की लज्जाने यहाँ आसरा पाया है।

और अमिनाभ है आज गौरी शंकर के समान स्वच्छ, निरभ्र, सिर उठाये। पर अब यह गलने लगा है। उसे गलनाही है। वह मानव ही है। वह सम्पूर्ण होगया तो क्या,। प्रकृति के नियमों का अवहलना करना उसका ध्येय नहीं। प्रकृति म व्याप्त विभाको आत्मसात किया वह प्रकाश पुंज बना। वह सब में समाया। सब उसमें समाये।

सो अमिनाभ एक दिन पूरा गल गया। बिखर गया। न किसीने उसका अग्नि संस्कार किया, न उसे समाधिस्थ। तब उसके चिर सहचर पद्मिराज, कुमिराज आदि आये। उन्होंने महोत्सव मनाया। अवशिष्ट पृथ्वी माता पर बिखर कर समा गया, कपूर सा उड लोकों लोकों में व्याप्त हो गया।

-ॐ-

अहिंसा का स्वरूप-

प्रमाद के कारण द्रव्य तथा भाव प्राणों को किसी प्रकार का आघात पहुँचाना हिंसा है। २ प्रमाद का अर्थ है कर्तव्यविस्मृति। प्रत्येक जीव का कर्तव्य है सम्यग् ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र रूप आत्मीय गुणों का विकास। जीव का अपने स्वभाव को भूलकर क्रोध आदि कषायों के वशीभूत होकर प्रवृत्ति करना प्रमत्त योग है। प्रमत्तयोग के द्वारा किसी को कष्ट पहुँचाना हिंसा है। इसके दो भेद हैं- द्रव्यहिंसा और भावहिंसा। किसी को कष्ट पहुचाना या मारना द्रव्य हिंसा है। दूसरे के प्रति मन में बुरे विचार आना भावहिंसा है। श्रमण परंपरा में भावहिंसा के त्याग पर विशेष जोर दिया गया है। जब मनुष्य असत्य बोलता है, चोरी करता है या अन्य किसी प्रकार की दुष्प्रवृत्ति करता है तो उसकी आत्मा में अशान्ति उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार वह दूसरे की हिंसा करने से पहले अपनी हिंसा करता है। इसलिए किसी के प्रति राग या द्वेष आदि का उत्पन्न न होना ही अहिंसा है और उनका उत्पन्न होना हिंसा है। यही आगमों का सार है। जो व्यक्ति अपने आत्मविकास रूपी कर्तव्य की उपेक्षा नहीं करता, राग और द्वेष में नहीं पड़ता, उसके हाथसे यदि प्राणिवध हो भी तोभी हिंसा नहीं मानी जाती।

धर्म की देन

पं माखनलालजी चतुर्वेदी

जैन धर्म का प्रारम्भ चाहे भगवान पार्श्वनाथ से हुआ हो या भगवान महावीर से, धर्मों के विश्व परिवार में जैन धम ने अपना हिस्सा अत्यन्त श्रेष्ठ सतह पर उपस्थित किया है। पृथ्वी के निर्माण की तिथि कोटि वर्षों में लगाई जाने मानव का निर्माण तिथि लक्ष-लक्ष वर्षों में ढूढी जाने, और मानव संस्कृति की तिथि इतिहास और प्रागैतिहास की धारा के दोनों किनारों के बीच सहस्र सहस्र वर्षों से बहती आने के पश्चात् भी, धर्मों की आकलनशीलता के प्रति विश्व की मानव भावना नहीं बच्चों जैसी नहीं बनी हुई है। पूर्वी गोलार्ध के एशिया महाद्वीप में धर्म भावना का महान परिवार निवास करता है। किन्तु हमारा बचपन यह है, कि जो हमारे धर्म में है, वह सर्व श्रेष्ठ है और सब कुछ अच्छा है, और जो हमारा धम नहीं है, वह तो है थ पर पर एक सह, मानो जो पराया सो पराया। उधर पश्चिम में, धम की भावना का अर्थ है ईसाइयत की भावना यदि किसी धम की अच्छाई की जाच पश्चिमी विद्वान करें तो ईसाइयत का माप दण्ड लेकर मानों ईसाई धर्म के पहिले धम भावना ही पृथ्वी पर न रही हो इसमें धर्मों का अपराध कम, मानव का बचपन अधिक है जब जब धर्मों से ऊचे उठकर धर्मों पर मत देने का दानव ने निगाह प्रयास किया, उसे नास्तिक कह दिया गया इस तरह, दानव की धार्मिक सकीर्णता के कारण विश्व पर और अपनी पवित्र से पवित्र रचना पर अपना स्पष्ट मत देनेवाले विश्वमानव के निर्माण में बहुत विलम्ब लगता आया है, और आज भी, जब वोट धर्म पर मत देता है तो चिन्तित होता है और जिस तरह स्थविर वशिष्ठ के आश्रम का सिंह आश्रम की अहिंसा वृत्ति के कारण अपने ही पञ्जों से डरता था कि कहीं वे किसी को गड न जावें, उसी प्रकार विश्वमानव धर्म पर मत देने से डरता रहा है वह खुला अनुयायी और खुला शत्रु होकर तो मत देता रहा, किन्तु मत मन्थन, मत निश्चय, मत सहिष्णुता, मत प्रकाशन और मतानुकूल चलन के चिन्तनपूर्ण आधारों पर मत देने से बचता रहा है

विश्व ने इनका परिणाम भी भोगा है। धर्म राज्य सचालन की गद्दियों

से उतारा गया, धर्म जीवन संचालन की दैनन्दिन परम्पराओं से वंचित किया गया, देव मन्दिरों और अधिकांश देव मन्दिरों में बुद्धिजीवियों की अरुचि बढ़ती गयी, और देवमन्दिरों के वातावरण में बुद्धिजीवियों के प्रति तिरस्कार बलवान होता गया।

धर्मों के पास एक धारणा बलवान है उनका प्रभु आकाश के अप्रत्यक्ष में कहीं निवास करता है, जिसकी सत्ता अणु अणु पर व्याप्त है और जिसका अवतार, जिसका पुत्र, यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत अभ्युत्थानम् धर्मस्य तदात्मानम् सृजाम्यहम् की था की सी कोई वाणि कहकर या कोई बात सोच कर पृथ्वी पर आया करता है।

इस सम्पूर्ण भावना के प्रतिकूल एक विद्रोह हुआ, यह भारत वर्ष में यह विद्रोह ब्राह्मणों की परम्परा के प्रतिकूल क्षत्रियों का था एक विद्रोह क्षत्रियों की परम्परा के प्रतिकूल ब्राह्मण ने भी किया था। पुराणों में कथा है कि भगवान परशुराम क्षत्रियों की उद्दंडता के प्रतिकूल हो गया। उन्होंने एक के बाद दूसरे राजा का नाश प्रारम्भ कर दिया आज भी भाई कन्हैयालालजी मानिकलालजी मुंशी जैसे तेजस्वी ब्राह्मण भगवान परशुराम के उस तेज की प्रशंसा करते हैं किन्तु मेरे अपराध मैं क्या करूं, मैं इस घटना का तेज समझ नहीं पा रहा क्षत्रियों के उपकरण यानी शस्त्र लेकर भगवान परशुराम ने क्षत्रियों के प्रतिकूल विद्रोह किया, और फिर, भगवान रामचन्द्र नामक एक क्षत्री के सामने ही हार खाई विद्रोह के समय समाज या जाति जिन उपकरणों को ग्रहण करती है, विजय प्राप्त होने पर उनके परिणाम विरोधी समाजों को प्राचीन समाजों में परिवर्तित कर दिया करते हैं। जिस तरह आज का शोध, आज का आविष्कार बनकर भी कल का साहित्य और परसों की रूढ़ि कहलाने लगता है, उसी प्रकार आज का विद्रोह कल का धर्म कहलाकर परसों वैसे ही बंधनों में हम बांध लिया करता है जैसे बंधनों के खिलाफ हमने विद्रोह किया था।

हां, जैसा कि मैंने निवेदन किया जैन धर्म ब्राह्मणों की रूढ़ि परंपरा और यज्ञों की हिंसा भावना के प्रति क्षत्रियों का विद्रोह था इस विद्रोह ने संसार को एक महान वस्तु का दान किया उसने मानव का प्रभुसत्ता को स्वीकार किया, उसने प्रभु को आसमान से उतर कर आनेवाला और अप्रत्यक्ष में विलीन हो जाने वाला मानने के बजाय जगत को यह संदेश दिया कि स्वयं मानव ही ऊंचा उठकर तीर्थंकर या तारक हो जाया करता है यदि धर्म ग्रंथ उपलब्ध न होते तो शायद कोई नहीं मानता कि मार्क्स के पचीसों

पहिले किसी ने ईश्वरत्व की भावना के खिलाफ मानव की प्रभुसत्ता को ईश्वरत्व का नाम दिया तब, यह भावना धर्म क्यों कहलाई ! इसके नाम पर प्रार्थनायें क्यों हुई ! इसके लिये ग्रन्थों की रचना क्यों हुई !

इसका पहिला कारण तो यह है कि भारतीय स्वभाव सदा धर्म निरपेक्ष रहा है। उसने विश्व की धर्म भावनाओं का सदैव खुले हाथों स्वागत किया है जिस समय यूरोप या पूर्वी एशिया से आज भी इस्लाम और मसीही धर्म के खिलाफ अन्य धर्म संस्थाओं का निर्माण और लाखों की तादाद में अनुयाइयों का मिलना दुर्लभ है, भारत में जरदोश्त धर्म के पारसियों को सम्पूर्ण आश्रय दिया गया जैन और बौध धर्म का खुले विद्रोह में उदय हुआ, कन्फ्यूशियस धर्म के चीनी यात्री यहां की धर्म निरपेक्षता और समस्त धर्मों के प्रति सहिष्णुता की प्रशंसा करते रहे, और इस्लाम तथा मसीही धर्म ने भारत की इसी भावना से लाभ उठा कर अपने अनुयायियों की तादाद करोड़ों और लाखों की। इस भारतीय धर्म भावना की उच्चता में ही जैन धर्म जैसे सर्वथा नवीन धर्म का उदय हो सकता था सो हुआ।

यह सच है कि प्राचीन युगों में विचारों के परिवर्तन के लिये धर्म भावना और सम्प्रदाय निर्माण का ही आश्रय लिया जाता था। किन्तु साथ ही यह भी सच है कि धर्म भावना ही एक ऐसा तत्व है जो मनुष्य को आत्म शत्रु होने से रोकता है वह मानव की ईमानदारी का उज्ज्वल आधार होता आया है और उसकी समर्पण भावना और दोषों के प्रति आत्मस्वीकृति के वैभव को मानव में जगमगाता और उभारता आया है। प्रार्थना पुरुषार्थ को क्रूर और उद्दण्ड होने से और श्रद्धा को कायर होने से रोकती है इसी लिये साधकों और साधिकाओं श्रवणों और श्रवणिकाओं को आधार बनाने के पश्चात भी जैन धर्म के मानव का तीर्थङ्कर के रूप में विशेष पूजा और प्रार्थना से परिवेष्ठित किया गया है यहांतक कि इस देश में रहनेवाले २८ करोड़ ६२ लाख हिन्दुओं के बीच जैनों की तादाद सौ में एक भी नहीं वे केवल १५ लाख के लगभग हैं किन्तु हिन्दु समाज और जैन समाज के धर्म ग्रन्थों को एकत्रित करें और तराजू के तौल के पल्लों पर रक्खें, और गुण और गरिमा के विवेचन में न पड़ें, तो दोनों के तौल में मुझे सन्देह है कि ३० करोड़ संख्या के जातिग्रन्थ १४ लाख संख्या के जातिग्रन्थों से तौल में भारी नहीं होंगे इतने धर्म ग्रन्थों का निर्माण हुआ कि जिनमें तर्क, दर्शन और कथाओं ने स्थान पाया

यूं तो अहिंसा हिन्दू धर्म का महान आधार है और वह धर्म ही कैसा, जिसका आधार अहिंसा न हो! सो

पहिले किसी ने ईश्वरत्व की भावना के खिलाफ मानव की प्रभुसत्ता को ईश्वरत्व का नाम दिया तब यह भावना धम क्यों कहलाई ? इसके नाम पर प्रार्थनायें क्यों हुई ? इसके लिये ग्रन्थों की रचना क्यों हुई ?

इसका पहिला कारण तो यह है कि भारतीय स्वभाव सदा धर्म निरपेक्ष रहा है। उसने विश्व की धम भावनाओं का सदैव खुले हाथों स्वागत किया है जिस समय यूरोप या पूर्वी एशिया से आज भी इस्लाम और मसीही धम के खिलाफ अन्य धम संस्थाओं का निर्माण और लाखों की तादाद म अनुयाइयों का मिलना दुलभ है, भारत में जर दोश्त धर्म के पारसियों को सम्पूर्ण आश्रय दिया गया जैन और बौध धर्म का खुले विद्रोह में उदय हुआ, कन् फ्यूशियस धर्म क चीनी यात्री यहा की धम निरपेक्षता और समस्त धर्मों के प्रति सहिष्णुता की प्रशंसा करते रहे, और इस्लाम तथा मसीही धर्म ने भारत की इसी भावना से लाभ उठा कर अपने अनुयायियों की तादाद करोड़ों और लाखों की। इस भारतीय धम भावना की उच्चता में ही जैन धम जैसे सवथा नवीन धर्म का उदय हो सकता था सो हुआ।

यह सच है कि प्राचीन युगों में विचारों के परिवर्तन के लिये धम भावना और सम्प्रदाय निर्माण का ही आश्रय लिया जाता था। किन्तु साथ ही यह भी सच है कि धर्म भावना ही एक ऐसा तत्त्व है जो मनुष्य को आत्म शत्रु होने से रोकता है वह मानव की ईमानदारी का उच्चतर आधार होता आया है और उसकी समर्पण भावना और दोषों के प्रति आत्म स्वीकृति के वैभव को मानव में जगमगाता और उभारता आया है। प्रार्थना पुरुषार्थ को क्रूर और उदंड होने से और श्रद्धा को कायर होने से रोकती है इसी लिये साधकों और साधिकाओं श्रवणों और श्रवणिकाओं को आधार बनाने के पश्चात भी जैन धर्म के मानव का तीर्थंकर के रूप म विकास पूजा और प्रार्थना से परिवेष्ठित किया गया है यहातक कि इस देश म रहनेवाले २८ करोड ६२ लाख हिन्दुओं के बीच जैनों की तादाद सौ में एक भी नहीं वे केवल १५ लाख के लगभग हैं किन्तु हिन्दु समाज और जैन समाज के धर्म ग्रन्थों को एकत्रित करें और तराजू के तौल के पल्लों पर रख, और गुण और गरिमा के विवेचन में न पड़े, तो दोनों के तौल में मुझे संदेह है कि २० करोड़ संख्या क जातिग्रन्थ १४ लाख संख्या क जातिग्रन्थों से तौल म भारी नहीं होंगे इतने धम ग्रन्थों का निर्माण हुआ कि जिनमें तक, दर्शन और कथाओं ने स्थान पाया

यू तो अहिंसा हिन्दू धर्म का महान आधार है और वह धम ही कैसा, जिसका आधार अहिंसा न हो। सो

यह विश्वभर के धर्मों का आधार है किन्तु ईसा की महान त्याग भावना के बावजूद जीवन, भोजन, और व्यवहार में अहिंसा का पालन न ईसाई जाति से सधा, न ऋषियों की तपोपूत परंपरा के अनुकूल सम्पूर्ण हिन्दू जाति से सधा। मुस्लिम जाति से तो सधना ही क्यों था, क्यों किंतु भगवान बुद्ध के अनुयाइयों से भी नहीं सधा हिंसा के भेद प्रभेद करके खाद्य पदार्थों का नियम हुआ, संसार म केवल एक जैन जाति ही ऐसी है कि अहिंसा को अपने जीवन और भोजन में उतारने का १०० फीसदी प्रयत्न किया। मांसाहार, विश्व म केवल इसी एक धम के अनुयायी नहीं करते। और इस तरह इस जाति का जीवन अहिंसा के सम्पूर्ण अनुकूल सिद्ध हुआ। इस तरह इस जाति ने दो बातें विश्व को दी एक तो मानव हा को ईश्वरत्व की कल्पना को आधार बनाया और दूसरे सम्पूर्ण अहिंसा को जीवन और भोजन मं न केवल उतारने का प्रयत्न किय वरन् सम्भव भी करके दिखा दिया। यहा मैं उस जैन दश न की बात नहीं करता जिसके प्रभाव ने ही मुझे जैन धम के प्रति अधिक अग्रसर किया था क्योंकि वह अपने में एक अलग विषय है और विश्व दर्शन के भगति न भगति की समीक्षामें विस्तार से देखने की वस्तु है मेरे जीवन का वैष्णव के निवास करने वाले ब्राह्मण ने अपने जब दर्शन के उन तन्तुओं को पाता है तो प्यार होता है कि भारत की महान परम्परा में भूषण की तरह जैन दर्शन चमकता है अस्तु यहाँ तो इसकी चर्चा करनी नहीं।

किन्तु विश्व मानव हमसे कुछ प्रश्न पूछ सकता है और हमें उधर भी ध्यान देना होगा विश्वके रक्षक क्षत्री तलवार फेंक कर चिंतन और लेखनी में उतरे तब जैन धम बना। किन्तु उसके विषम परिणामों से कैसे बच सकते थे ? जिन ब्राह्मणों से अधिक तप और त्याग की भावना बढ़ाने का उद्योग किया गया था उन्हीं तप और त्यागों का पुञ्ज बनकर जैन जाति रह गई और देश के शासन और रक्षा के क्षत्रिय तन्तु शताब्दियों की इस धारा म न जाने कहां विलीन हो गए। क्षत्रियत्व ब्राह्मणत्व को पराजित करने गया था और स्वयं परंपराओं से ब्राह्मण बन कर बैठ गया। इसका असर धम के विस्तार पर पड़ा हिंसा के चरमत्व से चाणि बोलकर विश्व में महान युद्धों का करनेवाला बौध धम पूर्वी और दक्षिण देशों पर छा गया और अहिंसा को जीवन पर उतारने के सम्पूर्ण प्रयास में जैन धर्म राजश्री के महान तेज से वंचित हो गया अत्यन्त प्रतिभाशाली होकर भी अपनी त्याग भावना के जो फल भूमि लिये अभिशाप बनाये ठीक उन्हीं अभिशापों को जैन जाति ने अपने में दुहरा

दिया। विश्व का धर्म राज्य संचालन की गद्दी से उतारा गया था, भारत का ब्राह्मण राजगुरुत्व के महान गौरव से उतारा गया, और भारत का जैन धर्म, उसी तरह, शास्त्रों के स्वर्ग में निवास करते हुये विश्व की विजय पराजय से निर्वाण पा गया। तब यदि इस महान देश में उस की गणना केवल १४-१५ लाख रह गई तो यह तो होना ही था। आज के भारतीय चिंतक को, केवल जैन चिंतक को ही नहीं, अपितु निस्तान के भारतीय राजदूत विंग कमाण्डर रूपचन्दजी तथा उनकी जोड़ के व्यक्तित्व निर्माण करने में गौरव अनुभव करना चाहिये क्योंकि जैन तत्वों और दर्शनों को हानि पहुँचना इस देश की बहुत बड़ी हानियों में होगा जैन और बौध धर्मों ने भारत वर्ष को एक महान देन और दी है वह है कला की देन।

मानव के सुकोमल, कलित कुंजित मनोभावों को जिसने हमारी वाणि पर उतारा उसे हमने कालीदास कहा, और ऐसे कुछ और नाम दिये। किन्तु मानव के मनोभावों को जैन और बौध जातियों ने अपनी कथाओं के रूप म इस देश के गिरि खंडों की दीवारों और पत्थरों पर उतार दिया बौध और जैन युगों के बिना भारत वर्ष म मूर्ति कला का वह वैभव न होता जो आज भारत के खंड हरों तक में विद्यमान है मूर्ति कला के हिन्दू जाति के कुछ श्रेष्ठ नमूने भी इस देश में हैं, किन्तु बुद्ध और जैन लोगों की परंपराएं मानव मनोभावों को लेकर रंगों और पत्थरों पर उतारने में जितनी आग्रत जितनी विस्तृत, जितनी गहरी, जितनी सफल हुई है वह इस देश के संस्कृति के इतिहास में मूल्य वान निधि के रूप म समहीन है। किंतु जैन हो या हिन्दू, आज तो हम मानो कला के हत्यारे ही के नाम से नेक नाम हो सकते हैं। एक मूर्तिकार मूर्ति का निर्माण करता है अपने अन्तर में चमक उठने वाले स्नेह भाव को, सौ-सौ सांसों से गूंथकर, वह पत्थर पर उतारता है और वह पाषाण प्रतिमा किस लिए निर्मित होती है कि सहस्र सहस्र भक्ति की मनो कामना उस मनोभावमयी मूर्ति के दर्शन से पूर्ण हो सकती है। रथ पर चढ़ कर और हृदयों के आनन्द से आगे बढ़कर शास्त्रों के मन्त्रों से गर्जित वह मूर्ति मन्दिर में आई, और दृढ़ पाषाण प्रतिमा के उज्वलतर मुद्रा भावों के चरणों पर शत शत राशि समर्पित कर दी गई। किन्तु कोई इन पूजकों से पूछे कि पूजकों तुम शत-शत यहां हो, किन्तु वह मूर्तिकार कहां रह गया जिसकी कि छैनी और आँखों ने यह मूर्ति बनायी! हम जैन हों कि हिन्दू, यह मूर्तिकार अछूत है, यह हमारे धर्म का नहीं है, यह हमारी जाति का नहीं है, वह हमारे मन्दिर में कैसे प्रवेश पा सकता है! और इस तरह विशाल मन्दिर

के पत्थरों में प्रतिमा हीनता गूंज उठी और हमारी प्रतिमा का चरम सौभाग्य हमारा चरम दुर्भाग्य बनकर मूर्तिकार और उस जैसे उपेक्षितों के साथ मंदिर के बाहर बिलखता खड़ा रह गया। तब बताइये मूर्ति और कला की यह देवत्व परंपरा, पत्थरों पे रंगों पर मानव के सुकोमल मनोभावों को उतारते हुये, हम आज के युग में जीवित रहे तो कहां ? जीवित रहे तो कैसे ?

जग दर्शन

सागरमल जैन 'मौला

वेदना की हलचलों में एक अद्भुत सार देखा।

चेतना कब तक रही है
और भी कब तक रहेगी,
जिन्दगी अवसाद होकर
दुख अभी कितना सहेगी ?

आज क्षण-क्षण पल-पलक में एक हाहाकार देखा।

आज सदियों की पुरानी
अनललय मैंने सुनी है,
आह की निःसीम सांसें
एक उंगली पर गिनी हैं,

प्रति हृदय के बीच मैंने एक चुभता तार देखा।

शांति तो सुधी जगत् की
भ्रांति की बेबस पिपासा
थी कभी मेरे हृदय में
स्वप्न की यह क्षणिक आशा,

अब सुकोमल फूल को कांटों भरा लाचार देखा।

जिस हृदय में था अंधेरा
हो न पाता था सवेरा,
कायरों का एक घेरा
पाप का दुर्दिन बसेरा,

आज उसी में क्रांति का फूला फला संसार देखा।

श्रमण-संस्कृति का राष्ट्रीय महत्व

शिखरचंद जैन; सा० र०

श्रमण संस्कृति का व्यक्तिगत, धार्मिक और पारलौकिक महत्व तो अपार रहा, परन्तु सार्वभौमिक, राष्ट्रीय या इहलौकिक महत्व कहीं अधिक कल्याणकारी रहा। इसी पक्ष की आज हमें चर्चा करना है।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब तथागत गौतम बुद्ध के बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ तब श्रमणों के द्वारा ही। जहाँ उनके जीवन में ही अनेक व्यक्ति श्रमण बनकर सारे भारत में फैल गये, वहाँ प्रियदर्शी सम्राट अशोक की यह तीव्र उत्कंठा थी जिसने इन श्रमणों में स्वतः अपने परिवार को लगा दिया, और इसका ही परिणाम निकला कि बौद्ध धर्म का प्रसार भारत में न अट कर विदेशों में फैल गया।

ईसाई धर्म के प्रसारक कौन थे? ईसाई संत-महात्मा थे। ईसाई श्रमण ही थे जो जले, गले देशनिर्वासित हुए, फिर भी प्रभु ईसा का सन्देश लेकर वे पृथ्वी के कोने कोने में पहुंचे। जहाँ सूर्य की भी गम न थी वहाँ वे पहुँचे और उन्होंने ईश्वर पुत्र ईसा की दीन बंधुता का डंका बजाया।

हाँ, इस्लाम का मार्ग भिन्न रहा, यद्यपि जोश-खरोश और कष्ट सहन वैसा ही था। जैन धर्म की उत्पत्ति का कारण भी जैन श्रेष्ठि-वर्ग या सम्राट नहीं रहे। वे तप की आग में अपने को झुलसाने वाले एकाकी परम औदार्य साधु रहे जिन्होंने सर्वस्व त्याग कर अहिंसा का मार्ग प्रशस्त किया और प्राणि मात्र का अप्रतिम कल्याण युगों युगों तक किया।

अब सोचिए रूसी क्रांति [illegible] श्रेय किसको है? इसमें सन्देह नहीं लेनिन, ट्रास्की सतह के ऊपर या नीचे रहकर सूत्र संचालक रहे, परन्तु रूसी उद्भावक, प्रचारक क्रांति के वे अनेक अज्ञात रूसी तरुण थे जो भूखे प्यासे रह, मारे मारे सारे देश में घूमते और बसते रहे। उन्होंने साइबेरिया की भयंकर ठंड और जेलों का सामना किया, अपनी हड्डियाँ गलाईं, और फिर रूसी जनता में मिल गये। ये तरुण भी श्रमणों से कम न थे। इन्होंने हां, इनके त्याग शौर्य और कष्ट सहन ने ही रूसी जनता के कल्याण और ज्ञान का भाग उद्बुद्ध किया। ये अपरिचित रहे, अज्ञात रहे, अयशी रहे, काल के गाल में समा गये। आज उन्हें कोई

नहीं जानता, परन्तु उनका रक्तसिंचन रूस के उद्धार का खाद बना।

और हम अपने युग में आयें। हम अपनी स्वतन्त्रता की जड़ में देखें वह कौन सी शक्ति थी, कौन सी संस्कृति थी जिसने हमें स्वतन्त्रता दिलाई। उस विश्ववंद्य महा विभूति ने किस अदम्य शक्ति का संचय किया *जिसके विस्फोट ने पराक्रमशाली* कुटिल साम्राज्यवादी ब्रिटेन को घुटने टिका दिये। भारत का एक एक बच्चा जानता है एक महात्मा ने अनेक महात्मा पैदा किये श्रमणों के स्तर पहुँचे हुए अनेक अनेक त्यागी खद्दर धारी, निस्पृह सेवक पैदा किये, जिन्होंने अपनी वकालतें छोड़ी, डॉक्टरियें छोड़ी, स्कूल, कालेज और जजियें छोड़ी, जिन्होंने अपने बहुमूल्य, प्रिय विदेशी वस्त्रों की होली जलाई और सुदर्शन चक्र सँभाला। वैभव को ठुकराया, जेलों की यातनाएँ सहीं, बाणों की वर्षा की बौछारें झेलीं। घर बाहर के लोगों ने उन दीवानों का मजाक उड़ाया और फिर भी वे डटे रहे, जुटे रहे, तब कहीं जाकर हम यह सकते हैं कि हम स्वतन्त्र हैं।

अब चाहे आप बौद्ध और जैन धर्मों की सीमाओं में बँटने वाले तेजस्वी साधुओं को श्रमण कहें, परन्तु मैं तो उन स्वयं सेवकों और पहले लेवल के कांग्रेसियों की गणना भी इसी लिए श्रमणों में करता हूँ, क्योंकि उनके सारे गुण इनमें पाये जाते हैं।

इन श्रमणों ने राष्ट्र का कितना कल्याण किया। हम प्राचीन युग में जायें। इन्होंने अपनी संख्या बढ़ाई, अर्थात् अनेक निस्पृही, त्यागी व्यक्तियों की वृद्धि की, जिन्होंने संसार के वैभवों, परिग्रहों, प्रलोभनों को तिलांजलि देकर अवशिष्ट मानवों एवं गृहस्थों के लौकिक सुखों का मार्ग प्रशस्त किया। जितने श्रमण बढ़े उतनी सांसारिक, साँपत्तिक समस्याएं कम हुईं। इन्होंने एकाकनी वृत्ति धारण कर खाद्य समस्या के सुल झाने में, उसके भयंकर न होने देने में बड़ी भारी सहायता पहुंचाई। इन्होंने मठों संघों विहारों की स्थापना कर लोक कल्याण के बहुमुखी द्वार खोले। और सब कहीं श्रमण संस्कृति की व्याप कता से शताब्दियों तक सुख शाँति का वरदान प्राप्त होता रहा। इन्होंने बिना अपने नाम या अन्य कीर्ति के साधनों का उपयोग किये, वैदिक ऋषियों के समान अपने को देश में लगा दिया, और तब ही लोक कल्याण संगठित हुआ, एक सीमा तक स्थायी बन सका। इन्होंने शासन, शासन संचालन और शासकीय शक्ति संचय की ओर से अपने को हटा लिया और इसका परिणाम देश के लिए बड़ा शुभ और लाभप्रद रहा।

इसी प्रकार पहले लेवेल के गाँधी *भक्त कांग्रेस में उस समय आये जब* ब्रिटेन की प्रभुता का आतंक सारे

प्रसार पर छाया हुआ था। उसे साम्राज्य में कभी अस्त न होने वाले सूर्य का गौरव प्राप्त था, और यह सूर्य मध्याह्न के समान तप रहा था। उसके सामने तब अमेरिका नगण्य और उसी की सत्ता में अपने को लीन करने की धुन में था। रूस उसके वैभव का लोहा मानता था। जापान उससे डरता था। विश्व में केवल एक जर्मनी था जिसने उसका सामना करने का साहस किया था और मुँह की खाई थी। उस समय भारत में महात्माजी का अविश्वास किया जाता था, उनका मखौल उड़ाया जाता था। उनकी योजना की ओर मग दर्शन की धज्जियाँ उड़ाई जाती थीं। तब ब्रिटिश सिंह की मांद में प्रवेश करने का कार्य उन वीर काग्रेसियों ने किया और पिछले पैरों वालों का मार्ग प्रशस्त और सरल बनाया। उन भागी रथ तपस्वी और घुल घुलकर मरजाने वाले काग्रेसियों को आज कौन जानता है? वे वे सच्चे श्रमण और उनकी तपस्या, सेवा, साधना थी जिसने देश को स्वतन्त्रता दिलाई, लोक कल्याण के मार्ग पर लाकर छोड़ दिया।

इसीलिए मै आप से कहना चाहता हू कि यदि हम देश का सच्चा कल्याण चाहते हैं, देश की स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण रख चिरस्थायी बनाना चाहते हैं तो हमें श्रमणों का एक समूह पैदा करना होगा, हमें श्रमण संस्कृति का आदर करना होगा, भारतीय जीवन में उसकी प्रतिष्ठा करना होगी। महात्माजीने यही किया, जवाहरको यही करना होगा। यदि जवाहर यह नहीं करता तो राजनीति की स्वाभाविक कुरूप नीतियां और शासन यन्त्रों की कीच भरी सत्ता इस देश को डुबा देगी। नीति केवल नेताओं द्वारा जनता को कोसने और मार्गों में दबे मानवों से अधिक परिश्रम की माग करने से कुछ न होगा।

अतः श्रमण संस्कृति की स्थापना वृद्धि और प्रसार के लिये उसके आधार श्रमणों की एक बृहत् संख्या हमें पैदा करनी होगी, और यह महान राष्ट्रीय कार्य यदि कोई कर सकता है तो वह केवल तरुणों का ताज जवाहर ही कर सकता है। आज भी उसके आह्वान पर देश का बच्चा बच्चा अपने को न्यौछावर कर सकता है। अतः आज की महान राष्ट्रीय आवश्यकता प्रेस-कान्फ्रेंस या वक्तव्य नहीं हैं, और न प्रतिशत बढ़े हुए या ऊपरी आमदनी का मार्ग खोलनेवाली सरकारी योजनाएँ। क्योंकि इनमें तो आराम से, ढिलाई से, खा पीने के बाद अवशिष्ट क्रियाशीलता से काम होगा जिसमें होंगी बड़ी-बड़ी बातें, बड़े-बड़े विवरण जनता-जनार्दन की कमजोरियों का दिग्दर्शन और अपने को देवदूत, विशेषज्ञ प्रकट करने की भ्रष्ट चेष्टाएँ।

भगवान महावीर की देन

ले०—नाथूलाल जैन (साहित्यरत्न शास्त्री)

"यह संसार बड़ा ही विचित्र है। इसमें दृष्टि फैलाकर कहीं भी देखो, सुख शांति का लेश भी दिखाई नहीं देता। चाहे धनिक हो या गरीब, स्वामी हो या सेवक, पति हो या पत्नी, पिता हो या पुत्र, गुरु हो या शिष्य और कृषक हो या जमींदार किसी भी दशा में कोई भी प्राणी हो वह दुःख रूपी दावानल में झुलसा हुआ ही दिखाई पड़ रहा है। दूसरों को क्या सोचूं, मैं स्वयं इस अशाँति से दूर नहीं हूँ। मेरे भीतर का संसार ही स्वयं असार और राग, द्वेष मोह आदि प्रवृत्तियों से भरा पड़ा है मैं स्वयं रोग, शोक, जन्म जरा और भूख प्यास आदि से पीड़ित हो रहा हूं। किस प्रकार मैं इस दुःख से छुटकारा पाऊं और इस दृश्य जगत का दुःख मेरे द्वारा किस तरह दूर हो। काश मैं दुनिया के दुःख दर्द में काम आऊं, इसे सन्मार्ग पर लगा सकूं।" इन्हीं महान विचारों के द्वारा पूर्व जन्म में महावीर ने तीर्थंकर कर्म का बंध किया और जगउद्धार की भावना से वे नर से नारायण होने की योग्यता को पा सके। इस योग्यता को पाकर भी महावीर अपने जन्म में त्याग और तप से अन्य धातु मिश्रित सुवर्ण के समान कर्म संबद्ध अशुद्ध आत्मा को शुद्ध बनाने के

यदि समाज या देश त्यागी, निस्पृही, सेवा भावी, कर्मठ, चरित्रवान कार्यकर्ताओं या श्रमणों की सृष्टि नहीं करता है तो फिर उसके उद्धार की बात करना स्वतन्त्रता व स्थायीत्व की आकांक्षा रखना व्यर्थ है। जनता, मानव समूह का एक बड़ा भाग तो आज भी वैसा ही है जैसा वह पहले था और भविष्य में भी वैसा ही रहेगा। और इसीलिये सच्चे कल्याण के लिए इन श्रमणों को कार्य करना होगा उस समय भी जब ये उनका तिरस्कार करेंगे। यह कार्य कठिन नहीं है गोस्वामीजी ने कहा है, 'पर हित जिनके मन में होता है उनके करने के लिए संसार में कोई कार्य दुर्लभ नहीं होता।' अब प्रभु से प्रार्थना है यह समाज और देश को सुमति दे ताकि युग के अनुरूप पुनः श्रमण-संस्कृति के द्वारा हम मानव कल्याण और अपनी नव जात स्वतन्त्रता की रक्षा कर सकें।

लिए कटिबद्ध हुए। उन्होंने राज्य, सत्ति को ठुकराया, प्रारम से ही भोग विलासों के साधन कामिना आदि के सबध का परित्याग किया। एकल विहारी होकर वन को अपना निवास स्थान बनाया। समता को अपनी सह चरी बनाकर बाह्य शत्रुओं पर नहीं वरन अतरग शत्रुओं पर वे विजय पाने के लिए ध्यान रूपी खड्ग लेकर निकल पड़े। बारह वर्ष की घोर साधना के पश्चात् उन्हें सिद्धि प्राप्त हुई। वे पूर्ण वीतराग और सर्वज्ञ बन गए। इस प्रकार स्वय निर्विकार, रागादि अतरग दुखों से रहित होकर अनन्त सुख और अनत ज्ञान के धनी महावीर ने अपने कल्याण के मार्ग से दिग्भ्रमित भय प्राणियों को, जिनमें मनुष्य भी और पशु भी, सुख और शांति का उपदेश दिया।

भगवान महावीर ने, जो अपने ही पुरुषार्थ से सामान्य मनुष्य से विशेष या अर्हन्तपद को प्राप्त हुए थे, अपने आदर्श द्वारा अपने स्वभाव और सामर्थ्य को भूल रही जनता को उसके स्वभाव और सामर्थ्य का बोध कराया। भ महावीर ने स्वय म अयोग्यता रख कर परोपदेश का उदाहरण प्रस्तुत नहीं किया, जिसका कोई प्रभाव जनमानस पर नहीं होता। उन्होंने 'अहत्वाम् उद्धरिष्यामि मामेक शरणं व्रज' (म तुम्हारा उध्दार करूगा तुम मेरी शरण में आ जाओ) का आदर्श भी नहीं रखा। क्योंकि संसार में दूसरा कोई किसी मनुष्य का न कभी कुछ भला बुरा कर सकता है और न कर सकने में समर्थ है। एक दुखी का दूसरा दुखी कुछ भी नहीं कर सकता। जो कुछ होना है अपने द्वारा ही। यह जीव अपने ही काम से सुखी बनता है और अपने ही काम से दुखी। 'ईश्वर प्रेरितो गच्छेत्स्वर्गवा श्वभ्रमेववा' (ईश्वर से प्रेरित होकर ही हरेक प्राणी स्वर्ग या नरक को जाता है) इसे भी महावीर प्रभु ने काल्पनिक बताया। समन्वय दृष्टि से उक्त दोनों अशों म प्रथम का अभिप्राय सगत हो सकता है कि ईश्वर की भक्ति करने वाला पहले दास रूप से भक्ति करता है और जब वह ईश्वर के गुणों का अनुकरण करता हुआ उन गुणों का अपने म विकास कर लेता है तब वह स्वय मुक्त हो जाता है। इस प्रकार ईश्वर के आलबन से वह मुक्ति प्राप्त कर लेता है। द्वितीय अश से जो ईश्वर ही स्वर्ग या नरक म भेजने वाला सिद्ध होता है, पर ईश्वर भक्त को ईश्वर के प्रति आत्मसमर्पण के फल के प्रति अकर्तृत्व या उदासीनता की प्रेरणा ही मिलती है यह मानना चाहिए।

आत्मा के शत्रु राग द्वेष आदि को महावीर स्वामी ने जीता अत वे जिन कहलाये और उनके अनुयायी—उन्हें अपना आराध्य माननेवाले—जैन कह लाते हैं। गतानुगतिकता से या कुल

परम्परा से हम महावीर के अनुयायी बने रहें और उनके आदर्श गुणों में एक भी गुण को अपने जीवन में न उतारें तो इससे न अपना ही हित होगा और न दूसरों का। मनुष्य जीवन में मनुष्यता का पाठ महावीर से शिक्षा से मिलना चाहिए। हम अपने को पहिचानें और अपने स्वरूप के अनुरूप बनें तभी महावीर प्रभु के भक्त कहलाने योग्य हो सकते हैं।

संसार का सुधार और धर्म का प्रचार भी वही व्यक्ति कर सकता है जो स्वयं सुधरा हुआ है अपनी आत्मा को धर्म से सुवासित करता है। आज विश्व में बढ़ी हुई अशान्ति, प्रवृत्ति और युद्ध जन्य विभीषिका को दूर करने में समर्थ केवल शास्त्र निबद्ध तत्वज्ञान नहीं है बल्कि अपने आचरण द्वारा उन्नत व्यक्तित्व ही समर्थ है। महात्मा गांधी ने अहिंसा का प्रतिपादन अपने जीवन को अहिंसक बनाकर ही किया था। महावीर जयन्ती का उद्देश्य यही है कि महावीर का अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त सिद्धांत समस्त विश्व में फैले। इससे जैन धर्म का प्रचार हो इसलिए नहीं किन्तु हिंसा और परिग्रह आदि कार्यों से संसार अत्यन्त अशान्त और दुखी बन रहा है उसको शान्ति और सुख पहुँचाना ही महावीर की जयन्ती अथवा महावीर के सिद्धांत का प्रतिपादक साहित्य या ग्रन्थ उपदेश आदि साधनों के प्रचार का उद्देश्य है। सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो भ० महावीर ने केवल स्वकल्याण किया था। उन्होंने आत्मशोधन कर अपने को उन्नत बनाया। लेकिन जैसे अग्नि, सूर्य, जल आदि पदार्थ संसार के काम आते हैं उसी प्रकार राग द्वेष, इच्छा, कामना आदि से रहित भ० महावीर भी भव्य प्राणियों के आधार। जैन का स्वरूप और धर्म से समस्त संसार का हित ही होता है यह तथ्य अपने अपने पुरुष विशेष की बात है कि इन प्राकृतिक पदार्थों से लाभ मिल जाता है। अनावृष्टि, अतिवृष्टि ईति, भीति आदि का प्रकोप यों ही नहीं हुआ करता। इसमें आस्तिकों को अपने पूर्वोपार्जित कर्म का फल समझना मानना चाहिए। इस मान्यता से आत्मा कर्म, संसार, मुक्ति आदि में विश्वास संजात होता है और पुरुषार्थ जाग्रत होता है। यह शुभाशुभ कर्म भी तो अपने पूर्व पुरुषार्थ द्वारा ही बांधा करता है। सागरों तक की स्थिति वाले कर्म भी यह आत्मा अपने पुरुषार्थ से नष्ट कर निष्कलंक नित्य शुद्ध बनता है।

अपने विचारों को निर्मल, प्रामाणिक और समन्वययुक्त बनाने के लिए भ० महावीर ने अनेकान्त का और जीवन को ऊंचा उठाने के लिए अहिंसा एवं अपरिग्रह का उपदेश दिया। भ० महावीर की विश्व के प्रति यह देन है जो संसार के कल्याण के लिए है। उनसे पूर्व भ० आदिनाथ

मुक्तिपत्र

स्वरूप कुमार गार्गेय

सरिता के उस तट पर सम्राट यशोवीर्य का ग्रीष्म कालीन महल है। और महल से लगभग तीन मील की दूरी पर, पूरब की ओर पाटलपुर की अमराइयों में एक पुराना जीर्ण शीर्ण कुटिया है, जो इन दिनों सूनी है, और अपने बिछुड़े हुओं का वर्षों से पथ जोहती सी निरानन्द खड़ी है। प्रचण्ड आँधियों और भीषण तूफानों ने उसे ध्वस्त कर डालने के सतत प्रयत्न किये किन्तु कुटिया किन्हीं दृढ़ विश्वासों की जड़ों के आधार पर अभी तक जीवित है, और अमराई की छाँह में लम्बे लम्बे दिन काट रहा है। लोगों को आश्चर्य है कि इस कुटिया ने जितने बरस निरालम्ब रहकर निकाल दिये, उतने बरस तो देख रेख में रहने वाली सशक्त अट्टालिका भी निर्विघ्न नहीं निकाल सकती। इस में कुन्दन कृषक अपने छोटे से परिवार को लेकर रहता था, और खेती आदि से अपनी जीविका उपार्जन कर संतोषपूर्वक अपना जीवन व्यतीत करता था। किंतु घटना चक्र कुछ ऐसा चला कि वह चहकता हुआ सम्पूर्ण परिवार बड़े बड़े प्रहारों के कारण नष्ट भ्रष्ट होगया।

सो कुटिया आम्र वन के उदास उदायन में उदास सिहर रही है। हवा की व्याकुल लहरें आती हैं तो चुपचाप पल्लवों में विरह गीत के स्वर भरती हुई इस पार से उस पार निकल जाती हैं। सावन की बरसती हुई रातों में बिजलियाँ चमकती दमकती किसी को ढूंढने-खोजने आती हैं और निराश

आदि तीर्थंकरों ने भी यही उपदेश दिया था। जनता का विश्वास संपादन करने के हेतु प्रामाणिकता की आवश्यकता है। प्रत्येक जैन कहलाने वाला व्यक्ति अपने आचरण और व्यवहार से जैन बने और तब अपने कर्तव्य द्वारा विश्व की सेवा करे। जैन सिद्धांतों के प्रचार का प्रथम साधन मेरी दृष्टि में यही है। पर महावीर जयन्ती का पुनीत पर्व भी हमें यही स्मरण कराता है। हम इस पर्व की प्रेरणा पाकर विशेष उत्साह और साहस को जाग्रत कर सकें और अपने दायित्व निबाह करने में समर्थ हो सकें तो महावीर शासन का प्रचार होकर महावीर जयन्ती मनाना सार्थक होगा।

लौट जाती है। मेघ भी किसी की याद में रो रो उठते हैं। और कुटिया का वह टूटा द्वार तो हवा के झोंकों में बार बार बन्द हो होकर खुल खुल पड़ता है। विशेषकर तूफानी रातों में ऐसा भी लगने लगता है मानो कोई यहाँ फुसफुसाकर रो रहा है या किलकिला कर हंस रहा है। कभी ऐसा है मानों कोई किसी को बुला रहा है या ठुमक कर ठुमक ठुमक नाच रहा है। कभी कभी ऐसा संशय आ पड़ता है कि भूत भूतनियों का नाच हो रहा है या उनके किसी आनन्दोत्सव के बाजे बज रहे हैं। अधिक रात बीते कोई भी पथिक इस सूनी अमराई के पास से निकलने का साहस नहीं कर पाता है। जिन लोगों को इसमें रहने वाले कुन्दा किसान के परिवार पर घटी हुई भयंकर घटनाओं की जानकारी है, वे तो अधि यारी-सूनी रातों में कदापि इस पथ पर नहीं आते-जाते।

कुन्दा के परिवार में चार प्राणी थे। पत्नी कुन्दा, लड़का कुन्दन, लड़की यामिनी और वह स्वयं। नदी के कछार में उसका एक छोटासा खेत था, जिसमें साग भाजी उगाकर वह अपना जीविका चलाता था। यदि कछार की खेती से निर्वाह नहीं हो पाता था तो जंगल से लकड़िया काट काट कर ले आता और उसकी पत्नी कुन्दा उन्हें सर पर लाद कर उस पार नगर की डगर डगर घूम फिर कर बेच आती। अमराई के कुछ झाड़ भी उसकी अपनी सम्पत्ति थे। उनसे भी उसे थोड़ी बहुत आमदनी हो ही जाती थी। इस प्रकार उसके दिन कटते चले जा रहे थे।

कुन्दा बहुत सुन्दर थी। जब वह लकड़ियाँ या आम बेचने शहर जाती तो उसे देख कर बड़ रूपगर्विताएं आश्चर्य से ठिठकी रह जातीं उसके सौंदर्य का ढंग देखकर लोग तो यहाँ तक कह उठते कि पाटलपुर की अमराइयों में साक्षात् देवांगना ही उतर कर आ बसी है। किन्तु कुन्दा तो जैसे अपने आप से अपरिचित ही थी उसे अपने सौंदर्य का भान ही नहीं था। सबसे अधिक चिन्ता रहती थी उसे कुन्दन की। वह उसे हृदय से प्यार करती था, और रात दिन उसी की सेवा में जुटी रहती थी। कुन्दा बहुत सरल था। और उसकी सरलता पर न्योछावर होते हुये कुन्दा बरसती हुई झाड़ियों में कभी-कभी नाच-नाच उठती थी। सो इस तरह कजरी मेघ मल्लार देस व होली, बहार और सारंग अलापती कूकती, लय की तरह प्रवाहित होती हुई सी कुन्दा कुन्दा के साथ जीवन-पथ की मंजिलें पार करती जा रही थी। और कुन्दन भी था शुद्ध सारंग का स्वर, जो कि जीवन के आरोह अवरोह पर निरन्तर अपनी हृदयहारी लय को निभाता चला जा रहा था।

एक दिन सम्राट यशोवीर्य के समक्ष उनके मुँह लगे भृत्यों ने कुन्दा के अलौकिक सौंदर्य की वार्त्ता छेड़ी। और यहां तक कह डाला कि अनेकों रूपसियां उस कृषक स्त्री के समक्ष लज्जित होकर नतमस्तक हो जाती हैं। कुन्दा के रूप का वर्णन सुनकर सम्राट कामाग्नि से व्याकुल हो ऐसी भुवन मोहिनी को आलिंगन पाश में बांधने के लिये अधीर हो उठे। उन्होंने भृत्यों को दूर हटाकर गुप्त विभाग के मुख्य विश्वास पात्र अधिकारी को बुलाया और आदेश दिया कि पाटलपुर की अमराइयों में रहने वाली उस कुन्दा को यह आज रात ढूबने के पहिले पहिले विशेष विलास गृह के शयनकक्ष में उपस्थित करे। आदेश मिलते ही अधिकारी उठा और बिजली की तरह कक्ष के बाहर सघन अन्धकार में विलीन हो गया। झंझावातों के साथ ही मूसलाधार वर्षा हो रही थी। मेघों के गम्भीर गर्जन के साथ बिजलियां भी थोड़ी थोड़ी देर में कड़क रही थीं। सम्राट की अधीरता भी क्षण क्षण बढ़ती ही जा रही थी। वे बार बार शय्या से उठ उठकर पूर्वी गवाक्ष से, दूर पाटलपुर की अमराइयों की ओर दृष्टि फैलाकर देखने लग जाते थे, किन्तु घनी बरसात में उन्हें कुछ भी नहीं दीख पड़ता था।

रात आधी बीत गई, सम्राट करवटें बदलते बदलते जब शिथिल हो गये तो निद्रा ने उन पर अधिकार कर लिया। झंझा के साथ बरसात उसी तरह होती रही। थोड़ी देर बाद सम्राट जब गहरी सुषुप्ति की गोद में थे, गुप्त द्वार धीरे से उघड़ा और दूसरे ही क्षण चार खड्ग धारी रक्षिकाओं के साथ अनेक आभूषणों से विभूषित अप्सरा सी सौन्दर्यमयी रमणीने सिसकते हुये शयनागार में प्रवेश किया। बरसात इस समय कुछ कम होगई थी और अब केवल शाही उद्यान के वृक्षों पर बरसती हुई बूंदों का मधुर संगीत चल रहा था। प्रधान रक्षिका ने, मयूर मुखी वाद्य यन्त्र के तारों पर मधुर रागिनी का प्रथम चरण छेड़ते हुये सम्राट को जगाया। वैसे ही सम्राट ने आंख खोलीं रक्षिकाओं ने झुककर अभिवादन किया। किन्तु मणि मोतियों से लदी हुई कुन्दा आंखों में आंसू भरकर वातायन से दूर सघनता में दृष्टि गड़ाये खड़ी रही। आभूषणों से विभूषित किसान स्त्री कुन्दा आज वास्तव में अप्सरासी ही लग रही थी। सम्राट उस रूप को अपलक देखते रहे। प्रमुख रक्षिका ने विनयपूर्वक सतर्क स्वरों में कहा कि सम्राट के आदेशानुसार कुन्दन कृषक की स्त्री आभूषणों से विभूषित कर चरणों में प्रस्तुत की जा रही है। सम्राट ने जैसे कुछ सुना ही नहीं। वे कीलित से जैसे कोई स्वप्न देख रहे थे। कुछ क्षण बाद वे

अपने आप में तब लौटे जब कुन्दा के सर की चूड़ामणि मणिचषकों में जलते हुए दीपों के दीप्त प्रकाश में यकायक दमकी। सम्राट मधुर मुस्कान के साथ पयंक से उठे, और रक्षिकाएं कुन्दा को वहीं छोड़कर उसी द्वार से वापस लौट गईं।

* * *

रात बीती, दिन बीता, सप्ताह, महिना और वर्ष भी बीत गया। कुन्दा का क्या हुआ यह किसी को भी ज्ञात न हो सका। हां कानोंकान कुछ दिनों तक यह जन श्रुति अवश्य चलती रही कि एक दिन सम्राट ने निद्रितावस्था में कुन्दा को विषपान कराकर संसार से मुक्ति दिला दी।

जिस रात कुन्दा का अपहरण हुआ था, कुन्दन तब से ही बड़ी विचित्र मनोदशा में था। उस हृदय विदारक घटना के बाद उसका खाना-पीना सोना सब कम हो गया। खेती के काम में उसका जी नहीं लगता था और मजदूरी करना भी उसने छोड़ दिया था। वह पागलों की सी अवस्था में दिन दिनभर अमराई के किसी घने वृक्ष के पास बैठा बैठा न जाने क्या सोचा करता था और मन ही मन न जाने क्या बुदबुदाया करता था। कुन्दा अपने पीछे लड़की यामिनी और पुत्र कुन्तल को छोड़ गई थी। यामिनी थी बारह बरस की और कुन्तल था केवल दो बरस का। कुन्दा के जाने के छह महिने बाद उचित देख रेख के अभाव में कुन्तल बीमार पड़ा और मृत्यु के मुख में चला गया। अब रह गई यामिनी सो कुन्दन उसे किसी तरह सम्हाले हुए उद्भ्रान्त पथिक की तरह जीवन के उतार चढ़ाव पार करने लगा। न उसे गति का ध्यान था और न मंजिल का।

सम्राट यशोशीर्ष का शासन बड़ा आतंकपूर्ण शासन था। उसके राज्य में प्रजा अत्यन्त दुःखी और दुखी थी। उसके मुंह लगे जागीरदार सेठ साहुकार और अमीर उमराव रात दिन जनता का शोषण करते थे। राज्य के छोटे बड़े धूर्त अधिकारी निर्धनों को चूसने में संलग्न थे। दुखियों की चीत्कार पुकार सुनने वाला वहां कोई नहीं था। राजा के पास शिकायत ले जाने वाला देश द्रोही समझा जाता था, और उसे बड़ी से बड़ी सजा भुगतनी पड़ती थी।

सम्राट चारित्रिक दृष्टि से तो अत्यन्त हीन पुरुष था। वह इतना विलासी और लम्पट राजा था कि विसर्गिक सौन्दर्यवाली कुल कामिनियां राज भय से सदा प्रकम्पित रहा करती थीं। ऐसे आपदापूर्ण शासन में सब लोग केवल भाग्य के भरोसे रहकर अपना जीवन बिता रहे थे।

एक दिन सम्राट के जीवन में सबसे बड़ा खुशी का दिन आया। पटरानी

विभावरी की कौन से शुभ घड़ी में पुत्र ने जन्म लिया। अभी तक सम्राट की कोई संतान न थी इसलिये पुत्र-जन्म की खबर पाकर वे हृदयोल्लास से उछल पड़े। मदमाते गजराज की तरह झूमते हुए उन्होंने मुख्य राज्याधिकारियों को आदेश दिया कि राजकुमार का जन्मोत्सव सारे राज्य में बड़ी धूमधाम से मनाया जाय। और साथ स्वरों में यह भी कहा कि ऐसे समय में जो लोग उदासी अथवा व्याकुलता का प्रदर्शन करें उन्हें तुरन्त कड़ा से कड़ा दण्ड दिया जाय। सम्राट के मुख से निकले हुये शब्दों का अक्षरशः पालन हो इसलिये घोषणापत्र तैयार किया गया और तुरन्त राज्य के कोने कोने में निस्सारित कर दिया गया। समाचार फैलते ही नगर-नगर और डगर डगर सब वाद्यों से ध्वनियाँ उठने लगीं और जनाकार्णी हाट-बाट, चौराहों पर वार-वधुएं नाच गान करने लगीं।

सो उस दिन रात को जब सम्पूर्ण नगरी राजकुमार के जन्म की खुशी में दीप से चमचमा रही थी, पाटलपुर की अमराइयों में प्रगाढ़ अंधकार था। भय से कातर कुन्दन ने आखों में आगू भरकर दीपमालिका जलाई तो चौदह वर्षीय यामिनी शेरनी की तरह दौड़ी और सब दिये बुझा दिये। कुन्दन ने जब प्रश्नवाचक आखें खोले हुए उसकी ओर देखा तो नागिन की तरह फुफकारती वह बोली, दो वर्ष पहले हुयी दिन हुई माँ के अपहरण की घटना को क्या भूल गये बापू! आप ही ने कहा था कि एक न एक दिन ऐसे राजा के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा उठाया जायगा और दबी हुई क्षुब्ध जनता को उसके उद्धार का मार्ग सुझाया जायगा। इन बहती हुई हवाओं में माँ की चीत्र पुकार मुझे कह रही है कि वह दिन आगया है। कुन्दन हिचकियां भर कर रो पड़ा। बरबस आंसुओं को रोकते हुये वह फिर बोली 'भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है बापू! मत जलाइये दीप। भरी सभा में इसका उत्तर मैं दूंगी, मैं चूमूंगी मृत्यु को। मेरी मृत्यु रंग लायेगी। मुझे विश्वास है मेरे बलिदान से लाख लाख जनता का उद्धार होगा। कुन्दन आश्चर्य चकित हो अपनी बिटिया को देखता रहा। धीरे धीरे उसकी आखों से अविरल अश्रुधाराएं प्रवाहित होने लगीं। रुदन के प्रबल वेग में उसासें भरते हुए उसने कहा, 'बिटिया! व्यर्थ की विपत्ति मोल न लो। वो राजा है, जो सशक्त है उसका हम क्या बिगाड़ सकते हैं? नादानी छोड़ो और चार दीये तो जला ही दो।' यामिनी ने नकारात्मक सर हिलाया और दृढ़ता पूर्वक बोली, 'नहीं, नहीं, आज दीप मालिकाएं नहीं, ज्वालाएं धधकाऊंगी'। कुन्दन चुप हो गया। कुछ देर सोचता रहा, फिर

उसकी आँखों में भी लाल लाल डोरे उभर आये। उसकी स्मृतियां जाग उठीं और उसकी भरी भरी आँखों के सामने कुन्दन की चीखती चिल्लाती मुद्रा साकार हो उठी। आखिर रात बीत गई और पाटलपुर की कुटिया ने दीपोत्सव में भाग नहीं लिया।

दूसरे दिन प्रभात कालीन किरणें जब आम्र पल्लवों पर थिरक रही थीं, और कोयल कूक रहा था, सम्राट के सिपाही गुप्त विभाग के निर्देशानुसार कुन्दन और यामिनी को पकड़ने के लिये आये। कुटिया का द्वार बन्द था। सिपाहियों ने पहिले शीघ्र ही कुटिया को घेर लिया, और फिर उनके सरदार ने आगे बढ़कर द्वार खटखटाया द्वार खटखटाते ही भीतर से किसी की क्षीण आवाज आई, किन्तु द्वार खुला नहीं। वारुणी के मद में चूर सरदार ने क्रोध से उबल कर पांव की एक ठोकर लगाई, कपाट खुल पड़े। उसी क्षण एक काली बिलाई गुर्राती झपटती बाहर कूदी और देखते ही देखते घने वृक्षों में विलीन होगई। सिपाहियों ने कुटिया में प्रवेश किया। कुटिया सूनी थी। सरदार आश्चर्य और भय से ठिठका रह गया। उसने ऊपर आँखें उठाईं तो देखा कि एक ओर से छत टूटी हुई है वह सब कुछ समझकर भी कुछ क्षण इधर उधर देखता रहा। उस समय वासन्ती हवाओं के झोंके इस पार से उस पार बह रहे थे, और कुटिया की छत पर छाई हुई पल्लवित डालियां झूम झूम कर मुक्ति गीत गा रही थीं। कुन्दन और यामिनी को ढूंढने के लिये सिपाही अमराई में चारों ओर दौड़ पड़े। बात की बात में सब दूर उनके भाग निकलने के समाचार फैल गये। सम्राट यशोवीर्य के क्रोध का ठिकाना न रहा। मुख्य राज्याधिकारी की आज्ञा से सारे राज्य में ढिंढोरा पिटवा दिया गया कि जो कोई कुन्दन और यामिनी को आश्रय देगा वह मृत्यु दण्ड का भागी होगा। सम्राट के हस्ताक्षरों से घोषणापत्र भी विस्तारित किया गया कि जो कोई इन देशद्रोहियों को जीवित या मृत अवस्था में सम्राट के समक्ष उपस्थित करेगा वह आजीवन पर्यंत सम्राट का विशेष कृपा पात्र रहेगा, यही नहीं उसके बाद उसकी पीढ़ियों को भी राज्याश्रय मिलता रहेगा।

दिन पर दिन पर बीतते चले गये। कुन्दन और यामिनी का कहीं पता न चला। हां लगभग एक वर्ष बाद एक दिन कुन्दन और यामिनी के रक्तिम हस्ताक्षरों सहित एक 'मुक्तिपत्र राजधानी के प्रमुख चनाईण' चौराहे की मीनार पर चिपका हुआ देखा गया। उसमें लिखा था दुख की रात बीत रही है और अरुणोदय होने में अब देर नहीं है। हमारे लाख लाख भाइयों और बहिनों! कुटिया की

मनुष्य को अहिंसा (पर सुखीकरण) धर्म की आवश्यकता क्यों ?

मनुष्य को अहिंसा (पर सुखी करण) धर्म की आवश्यकता यों है कि मनुष्य जो चाहता है, वह उसे बिना अहिंसा धर्म के प्राप्त नहीं हो सकता।

मनुष्य चाहता है सुख। अर्थात् मनुष्य चाहता है कि दूसरे मनुष्य उसके प्रति अहिंसक (सुखकर हितकर सरल सत्य) व्यवहार करें। —मन, वचन, तन, की अविरुद्ध सम्यक एकता का नाम है, सरलता अथवा सत्यता।

परन्तु यह तभी सम्भव है जब कि वह भी दूसरों के प्रति वैसा ही साम्य व्यवहार करे, जैसा की वह दूसरों से चाहता है।

अतएव अहिंसक (सरल सत्य साम्य) व्यवहार का नाम पड़ा धर्म। जैसाकि ऋषि वाक्य है कि—

'श्रूयतां धर्म सर्वस्व श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मन प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।''

अर्थात्— धर्म का सार सुनो और सुनकर उसे हृदय में धारण करो। दूसरों के साथ वैसा व्यवहार मत करो कि जिससे, जिन दुखद परिस्थितियों को तुम नहीं चाहते हो, वे उन्हें प्राप्त हो जांय।

और इसी वहीं से हमारी मुक्ति का सूरज निकलेगा। यह विश्वास करलो कि सम्राट नाम को भी इस सुन्दर संसार में अब हम जीवित नहीं रहने देंगे।

जिस समय लोग यह रक्तिम मुक्तिपत्र पढ़ रहे थे, दूर राजप्रासाद में वादित्रोंके साथ मंगल सूचक शहनाइ बहुतही क्षीण और विकृत स्वरों में बोल रही थी।

सो, यह है पाटलीपुत्र की अमरा इयों में स्थित जीर्ण कुटिया की कथा।

इन दिनों से उपरोक्त मुक्तिमन्त्र की ध्वनि कुटिया के चारों ओर निरन्तर मंडरा रही है। इसलिये अंधड़ो, तूफानों और घनघोर बरसातों में भी गिरती पड़ती कुटिया गहरे विश्वासों की धरती पर आज ज्यों की त्यों खड़ी है। लोग कहते हैं, इन दिनों रात दिन कुटिया में मणिधर नाग और नागिन का जोड़ा फिरता रहता है। देखने वालों ने तो यहां तक देखा है कि अंधियारी रातों में कभी-कभी वे दोनों प्रखर प्रकाश युक्त मणि से वन-पथों को दूरतक दृतिमान करते हुए कुटिया के द्वार पर रात-रात भर पहरा दिया करते हैं।

तात्पर्य यह निकला कि-अहिंसा (पर सुखी करण) की साधना मनुष्य का धर्म है।

यदि यह ठीक है तो मनुष्य को चाहिये कि वह हिंसा की पर्यायों से बचा रहे। अन्यथा अहिंसा (पर सुखी करण धर्म) की साधना नहीं हो सकेगी।

हिंसा की पर्यायें यह है—

१ मिथ्यात्व (अनात्मवाद तथा एकांतवाद)

१२ कषाय—

४ क्रोध, मान, माया, लोभ।

३ काम (स्त्री पुरुष नपुंसक तीनों में आसक्ति)।

६ हास्य रति अरति शोक भय जुगुप्सा (घृणा,)।

आजका मनुष्य अहिंसा (पर सुखी करण) धर्म को त्याग कर हिंसा की उक्त पर्यायों (अर्थ काम संग्रह) के मारे (नादमें) लगा हुआ है— दूसरों में सुख साधनों का बटवारा करना छोड़कर अथवा "जिओ और जीने दो" इस अहिंसावाद (आध्यात्मिक साम्य वाद) को छोड़कर सुख साधनों (अर्थ काम) का लूट खसोट में लगा हुआ है।

आज वह ऐसा भयंकर स्वार्थी हो गया है कि इसके स्वार्थ के शिकार अन्य चराचर पशु जगत तो होता ही है परन्तु स्वयं मनुष्य भी मनुष्य का शिकार होता है। पशु जगत से सुरक्षित रहने के लिये मनुष्य इतना प्रयत्न नहीं करता जितना कि मनुष्य से सुरक्षित रहने के लिये प्रयत्न करता है। यानें मनुष्य को मनुष्य का जितना भय है उतना अन्य किसी का नहीं।

सचमुच आज तो मनुष्य पशु से भी गिर गया है। श्री जगजीवनराम ने ठीक कहा है—

"आजकल मनुष्य की अपेक्षा पशुओं में अधिक पारस्परिक स्नेह दिखाई देता है। क्योंकि पशु अपनी भूख मिटा लेने के बाद दूसरों को पेट भरने की इजाजत तो दे देता है। परन्तु मनुष्य तो अपनी जरूरतें पूरी होने के बाद भी दूसरों को उनका हिस्सा लेने नहीं देता।"

यही कारण है कि आज मनुष्य सुखी नजर नहीं आ रहा है।

उद्धार का सही मार्ग—

ऋषि व्यासजी का उपदेश है कि—
"ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष नैव कश्चिच्छृणोति मे
धर्मादर्थश्च कामश्च सधर्मः किन्न सेव्यते।"

अर्थात्— मैं ऊंचा हाथ करके पुकारता हूं, पर मेरी कोई सुनता नहीं। धर्म में ही अर्थ काम समाया हुआ है। ऐसे सरल धर्म का लोग क्यों सेवन नहीं करते!

सर गुरुदास बनर्जी (ज्ञान और कर्म में) लिखते हैं—

"मनुष्यों में स्वार्थ और परार्थ इतने अविच्छिन्न रूप से बंधे हुए हैं कि सच्चा स्वार्थ परार्थ छोड़कर हो ही नहीं सकता।"

श्री पं राजमल्ल (पंचाध्यायी में) लिखते हैं—

'आत्मे तराणिणामरा रक्षणं यन्मत स्मृतौ।
तत्र स्वात्म रक्षायां कृतनात्परत्र मत् ॥"

अर्थात्— अपने से भिन्न दूसरों की रक्षा का जो विधान है, वह केवल अपनी ही रक्षा के लिये है। इसमें वस्तुतः दूसरों की बात कुछ नहीं है।

म गांधी कहते हैं—

"हिंसा आत्मघाती है। उसके सामने यदि प्रतिहिंसा न हो तो वह जिंदा नहीं रह सकती।"

एक गुरुजन का कथन है—

"हम परस्पर में हृदय से मिलने के लिए आये थे—भाई भाई बनने के लिए आये थे, परन्तु अपनी दीनता के कारण वैसा न कर सके और वादी प्रतिवादी बन गये। जिस दिन हम लोग अपने आने का उद्देश्य पूरा कर लेंगे, वह दिन हम लोगों का यथार्थ सुख का दिन होगा।"

श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर (विचित्र प्रबंध में) लिखते हैं—

"सारे ज्ञान और विश्वास को पक्का (सम्यक) कर के अपने स्वभाव (कार्य) के साथ मिला देने का नाम सरलता है। यही मानसिक स्वास्थ्य है। तरह तरह के ज्ञान तथा अनेक प्रकार के मतों का नाम स्वास्थ्य नहीं है।

"सरल विश्वास मनुष्यत्व का सब से बड़ा प्रधान अंग है। यदि मुझसे कोई मेरे हृदय की बात पूछे तो मैं साफ साफ यह कहूंगा कि संसार में और दूसरी कोई भी वस्तु सरल विश्वास की अपेक्षा अधिक मनोहर नहीं है। इस सरलता के न रहने पर सभ्यता की सारी सुन्दरता जाती रहती है। क्योंकि स्वास्थ्य नहीं रहता। मनुष्य प्रकृति का स्वास्थ्य सरलता ही है।

'यदि सभ्यता अंत में सरलता के साथ में सम्मिलित नहीं होगी तो उसे अपने आदर्श की पूर्णता भी प्राप्त नहीं हो सकती।"

श्री बंकिमचन्द्र (चौबे काचिट्ठा में) लिखते हैं—

"न जाने यह मनुष्य समाज कब सच्चे सुख के पाने का उपाय खोजेगा। जितने विद्वान, बुद्धिमान दार्शनिक, और तत्ववेत्ता हैं, वे सब मिलकर देखें कि औरों को सुखी बनाने के सिवाय अपने सुखी होने का और कोई उपाय है या नहीं। मैं कहता हूं कि नहीं है। मनुष्य के सुख का मूल कारण दूसरों को सुखी करने के सिवाय और नहीं है। आज जैसे लोग धन मान आदि के पीछे पागल एसे फिरते हैं, वैसे ही एक दिन सारी मनुष्य जाति दूसरों को सुखी बनाने के लिये पागल हुई फिरेगी। मैं मर कर मिट्टी में मिल जाऊंगा मगर मेरी यह आशा एक दिन अवश्य सफल होगी।"

इस प्रकार मनुष्य को अहिंसा (पर सुखी करण) धर्म की आवश्यकता है। भारत की यही सुसंस्कृति है। बिना इसके मनुष्य सुखी नहीं हो सकता।

नाम विज्ञप्ति मात्र है!

संसृति में द्विविधा का एक अति भयंकर अलातचक्र अपनी सम्पूर्ण उष्णता के साथ आवर्तमान है। इस निरन्तर प्रवहमान अग्निचक्र की प्रज्ज्वलित अराओं और अविश्रांत आवर्तों में एक भैरव सघपणा है। वस्तु-अवस्तु, आत्म अनात्म, नाम अनाम कथनी करनी, आलोक तिमिर आग पानी और जीवन मरण का यह विराम विहीन संघर्ष जगत के होने का इकलौता प्रमाण है। इस महायुद्ध के दामन में नींद ले रही विश्व का दृष्टात्मा के दर्शन नाम है मोक्ष और अदर्शन का नाम है जगत।

अस्तमित नक्षत्रों की धुकती भागती झिलमिलाहट के बीच प्रकाश इस प्रकार झूम रहा था जैसे तक्षशिला विहार के प्रवारण-चंक्रमण पर निश्चल बैठे बोधिसत्व के तपस्या से अत्यन्त दीप्त मुखमंडल पर विराग। तक्षशिला के प्रासादों का रव बोधिसत्व की पलकों पर पहुँचकर नीरव हो गया था। इधर भगवान अमिताभ के मुख पर अतिशय गतिशीलता के साथ विचार डूब उतर रहे थे उधर उपसम्पदा और दर्शना के लिये आये उपासकों के अन्तःस्थल में द्विविधा का निरन्तर द्वन्द्व छिड़ा था। ज्योति और तमस्, कथनी और करनी, जिन्दगी और मौत, पानी और आग, वस्तु और अवस्तु के बीच युगों से छिड़े युद्ध को देख बोधिसत्व की विचारणा मौन थी। उन्होंने बहिरंग के मानव से लड़ना छोड़कर अन्तरंग के मानव से युद्ध आरंभ किया था। भगवान बुद्ध का दैनंदिनी का प्रमुख कार्यक्रम उष:काल में परिवेश-चंकमण पर बैठकर

लोकम्हि मनं दिस्वा धनपालिञ्च दुग्गतं,
पन्थकञ्च वने मूलहं पापको पुनरागतो।

—नामसिद्धि जातक

उपासकों श्रामणेरों, शिक्षमाणों और भिक्षुओं को देशना देता था। तक्षशिला के सहस्त्रों नागरिक मानस में ज्ञान की अतृप्त पिपासा लिये प्रतिदिन परिवेण में पहुँचते और शास्ता की अमृत-वाणी ग्रहण करते।

अभी बोधिसत्व का ध्यान टूटा ही था कि उनकी दृष्टि सद्यः प्रव्रजित शिष्य माणव भिक्षु 'पापक' पर पड़ी। तथागत ने देखा पापक के निष्प्रभ मुख पर नाम अनाम का भैरव-उत्पात एकत्रित था। वह कभी नासिकापुटों में प्रश्वास रोक लेता तो कभी महाकार सर्प की तरह उसे सिसकार देता। उसकी मुख-मुद्राओं का बनना मिटना अभ्यास कर रहे चित्रकार के चित्रपट पर बनी मिटी आकृतियों का स्मरण दिला रहा था।

यद्यपि पापक का मानस मुख पर आकार कई बार उलीच जाता पर ये सब कुछ क्षणों के उपरान्त जल-पात्र में मथित बारीक मिट्टी की तरह पुनः समतल हो जाते। पापक के ऊहापोह के प्रति विरक्तभाव होते हुए बोधिसत्व ने यथासमय देशना आरम्भ की। तपस्या की तरह उष्ण और विवेक की तरह सन्तुलित स्वर में शास्ता ने कहा—

'उपासको! संसार में दुःख ही दुःख है। अवश्य दुःख का नाश है। राग से बचो। विराग को ग्रहण करो। शरीर को अधिक कष्ट मत दो। आत्मा को समझो। मन से निरन्तर युद्ध करो। नाम कर्म का भेद मत समझो। वस्तु प्राप्ति के लिये रखे गये नामों का वस्तु से कोई सम्बन्ध नहीं है। अगण्य वस्तुओं के समारोह में से विशेष के लिये निर्धारित संकेत ही नाम हैं। नाम तो पुकारने के लिए हैं उसका वास्तविकता से किंचिन्मात्र भी संपर्क नहीं है। प्रत्येक पदार्थ एक क्षण में जो है दूसरे क्षण वह, वह नहीं है। जगत् पानी के बुद्बुद की तरह भंगुर है।

× × ×

निश्चित समय पर देशना विसर्जित हुई और बोधिसत्व परिवेण के प्रमुख अध्ययनकक्ष में चले गये। किन्तु इधर युवा पापक के मानस में नाम-कर्म का आकर्षण विकर्षण आरम्भ हुआ। वह बाहरी बातों पर विचार करने वाला युवा है। उसकी आँखों की पुतलियों पर विचार इस तरह क्रीड़ा करते हैं जैसे भयंकर आँधी में तिनके। यहाँ तक कि पलकें ओढ़ लेने पर भी उसका द्वन्द्व ऊपर उभर आता है। वह अहरह बहिरंग के विश्लेषण में व्यस्त रहता। कर्म की अपेक्षा नाम की सिद्धि की ऊहापोह पापक में अधिक है। इसीलिये जब कभी कोई उसे पापक कहकर पुकारता है तब वह फन पर प्रहार पाये सर्प की तरह भीतर ही भीतर सिसकार उठता है। अन्तरंग में निर्धूम अग्नि की तरह भड़कते रहना उसका स्वभाव

है। यह सोचता मेरा नाम 'पापक' है। निश्चय ही मैंने अगणित पाप किये होंगे तभी तो मेरे अनाम शरीर के साथ यह विपत्ति जोड़ दी गई है। यों अन्तरंग से वह पूरी तरह निष्पाप है, पर बहिरंग का पाप उस पर एक छत्र होकर बोल रहा है। उस पापक सम्बोधन से विरक्त हो गई है। उसका वश चले तो वह क्षणभर में इस स्थिति को बदल डाले। जैसे काले साँप की तरह उसका अमांगलिक नाम उसके अन्तरंग में डंक मारने लगा है। इसी लिये सान्ध्यनिक देशना की समाप्ति पर उसने बोधिसत्व से आग्रह किया 'भन्ते! मेरा नाम अशुभ और अमांगलिक है। मुझे इससे विरक्ति हो गई है। अभी मुझे अपर नाम का अनुग्रह कर।

'आयुष्मान् नाम तो संकेतमात्र है। वह तो बुलाने भर को है। नाम से किसी प्रकार की अर्थ सिद्धि नहीं होती। तू इसी नाम से सन्तुष्ट रह!'— शास्ता ने विवेक और निवारणपूर्वक पापक को उपदेश दिया।

किन्तु जब पापक ने बार बार आग्रह किया तो तथागत ने उसे आदेश दिया कि—'भन्ते! तू देश देश में परिभ्रमण कर अपनी रुचि का नाम ढूँढ़ तेरा नाम वैसा ही रख दिया जा...

× ×

अभी चला ही था कि उसे तक्षशिला के उपकण्ठ-क्षेत्र में एक मृत्यु का सवाद मिला। जीवन का अस्थिरता के विचार में डूबता उतराता जैसे ही वह आगे बढ़ा उसे शव-यात्रा दिखाई दी। शव यात्रियों से पूछताछ करने पर उसे पता लगा कि 'जीवक' नामक नागरिक का देहान्त हो गया है और उसके पारिवारिक उसे उसका दाहक्रिया के लिये ले जा रहे हैं। इसी समय पापक ने आश्चर्यपूर्वक एक शव-यात्री से प्रश्न किया—'उसका नाम क्या था?'

"जीवक"

'क्या जीवक भी इस तरह मरा करते हैं? नाम की नित्यता वस्तु की नित्यता को प्रकट करती है। यह असंभव है।

"भन्ते नाम तो प्रज्ञप्ति मात्र है। वह तो सम्बोधन का माध्यम है। संसार में 'जीवक' और 'अजीवक' सभी मरा करते हैं। शवयात्री ने विनम्र भाव से प्रत्युत्तर दिया।

पापक ... खोजने
लगी। ... नहीं
उसने मा...
आन...
मे

मन की सतह पर आते बैठते विचारों से उलझता सुलझता वह वह शिला के आग्नेय सीमान्त पर आ पहुंचा। यह उपनगर श्रेष्ठिन् वर्ग की बस्ती है। यहां तक्षशिला के ऐश्वर्य का आवर्तन विवर्तन होता है। पापक अतिशय निश्छल भाव से गगन चूमती अट्टालिकाओं को देखता आगे बढ़ रहा था। प्रकोष्ठ पर पड़ी स्वर्णाभ झालरें पवन के झोंके पर विश्रान्त विचारों की तरह झूल रही थीं। स्वर्ण पुरुष गगन की नीलिमा से उतर कर प्रतीची की लालिमा में डूब चला था। श्रेष्ठिन् सुमनस् के नये बन रहे प्रासाद से श्रमिकवर्ग पक्षियों की भांति लौट रहे थे। अनायास ही वह उस ओर बढ़ गया। अब वह प्रासाद की छत के ठीक नीचे आ गया। यहां श्रमिकों को पारिश्रमिक वितरित किया जा रहा था। किन्तु इन सब अभिजात नाटकों को चीरती हुई पापक की दृष्टि सुमेधस् के द्वार पर बिलख बिलख कर रो रही एक दरिद्र श्रमिक कन्या पर ठहर गई। उसने रुदन कर रही कन्या के समीप पहुंचकर पूछा—

"भद्रे तुम्हें कौनसा दुःख है।"

"तात, न पूछिये! मैं श्रमिक कन्या हूं। प्रतिदिन श्रम करती हूं और जो कुछ मिल जाता है उससे अपना और अपने परिवार का उदर पोषण करती हूं। पर ... कहते कहते श्रमिक-कन्या की कपोलों पर आंसू लटक गए। युगल कपोलों पर शरीर का समग्र रक्त सिमट आया। वह आपाद स्वेद से नहा उठी। उसकी शरीर यष्टि की कम्पित रोमाली पापक के समग्र प्रश्नों का उत्तर देने के लिये तत्परता से उठ बैठी किन्तु लज्जा ने झिड़ककर उसे वहीं बरज दिया। वह सिर झुकाये भूमि कुरेदने लगी।

विक्षिप्त मन पापक ने नारी सौन्दर्य के प्रति अनायास ही उग आये स्वाभाविक आकर्षण को अनभिव्यक्त रखते हुए पूछा——"तुम्हारा नाम ?"

धनपाली!"

"धनपाली!!" पापक ने विस्फारित नेत्रों से श्रमिक कन्या के शरीर को आपादान्त पढ़ डाला और बोला— "फिर तुम इतनी दरिद्र क्यों हो?"

'भन्ते!" धनपाली ने गम्भीर होते हुए कहा—"नाम में कोई सिद्धि नहीं। नाम के साथ कर्म की संगति आवश्यक है। कर्म की सिद्धि नाम की सिद्धि से श्रेष्ठतर है। 'धनपाली' हो या 'अधनपाली' मनिन्य तो अनिवार्यता के साथ प्रकट होता है।

उत्तर पाकर पापक आगे बढ़ गया। धनपाली की बातों ने 'नीवर' के शव से मिले 'शिव' को और भी दृढ़ कर दिया। देखते देखते वह किसी बोझाली

अशान्ति से घिर गया। मनमें गम्भीर चिन्ता ठहरने को हुई ही थी कि आयुध के धनुष से छूटे बाण की तरह पूरी सर्राहट और गति के साथ उसका मन फिर हाथ से निकल गया। निवृत्ति ने उसके पग निर्जन वन की ओर कर दिये। नाम अनाम के संघर्ष में व्यस्त 'पापक' ने वन में एक रेंगती सी छाया देखी। वह स्फूर्ति के साथ उसके निकट पहुँचा और प्रश्न किया कि—'तुम कौन हो, भन्ते!'

'पथिक'—थका सा स्वर उस विजन वन में गूंज उठा।

'तुम्हारा नाम'

'पथक'

'यहां क्या कर रहे हो!'

'मार्ग भटक गया हूँ उपासक! बता सको तो बड़ा अनुग्रह मानूंगा। मुझे पाटलिपुत्र पहुँचना है।'

" पर तुम 'पथक' होकर पथ कैसे भूल गये, भन्ते! यह तो बड़े आश्चर्य की बात है।"

"भन्ते, नाम तो केवल पहचान है उसका वस्तु की वास्तविकता से कोई सम्बन्ध नहीं। अभिशाप में से विशाप को ढूंढ निकालने के लिये ही संज्ञाओं का आयोजन किया गया है। इसीलिये 'पथक भी पथ भ्रष्ट हो सकते हैं, अपथक भी।

'तो 'नाम' का कोई महत्व नहीं।'

"सर्वथा नहीं, भन्ते!'

पापक ने पथक को संकेत दिया और वह पाटलिपुत्र की दिशा में चल दिया।

पापक बौद्ध परिवेश में लौट आया। अब उसके मुख-मंडल पर एक अपरिमेय सन्तोष, वीतरागता और विरक्ति छा गई है। शास्ता ने पूछा— 'भन्ते' कवि का नाम मिल गया?

'नहीं, भन्ते अनुसंधान विफल रहा। मैंने अपनी यात्रा में देखा कि 'जीवक' भी मरते हैं, 'अजीवक' भी। धनपाली भी दरिद्र है, अधनपाली भी। पथक भी पथभ्रष्ट होते हैं 'अपथक' भी। भगवान्! जगत् मिथ्या है, अस्थिर है, भंगुर है। मुझे स्थविर की दीक्षा दीजिये प्रभो!'

कुछ ही क्षणों के उपरान्त उपासक गण ने देखा 'पापक' अभिराम के चरणों में यह कहते हुए कि 'नाम विज्ञप्ति मात्र है, सिद्धि कर्म में है।' वर्ष भर के शिशु की तरह लोट रहा था।

संस्कृति का जीना मरना नहीं होता

इकाई नहीं, कई दहाइयाँ मिलकर संस्कृति का निर्माण करती हैं। और फिर संस्कृति में मनस् का जितना जोड़ है वपुस् का उतना नहीं है। संस्कृति और सभ्यता का सबसे बड़ा और बुनियादी फर्क यही है कि संस्कृति मन की नींव पर अपनी प्राचीरें खड़ी करती है और सभ्यता अपनी जड़ें वपुस में रोपती है। चूंकि संस्कृति का विकास ठीक उसी तरह का है जिस तरह भूगर्भ में काष्ठियों से पाषाण, कोयले से हीरककण और क्षार पदार्थों से गंधक का, इसीलिये उसे अकस्मात् या मनचीते प्रयत्नों से जब चाहे तब बदला नहीं जा सकता। संस्कृति का विकास मानवीय नियंत्रण से परे एक ऐसा विकास है जो युगों से निरंतर चला आ रहा है और जो नित्य नवीन और संतुलित है। एडम और ईव, मनु और श्रद्धा या और भी अधिक व्यावहारिक होने पर यों कहें कि आदि पुरुष और आद्या नारी के आभ्यान्तरिक संबंधों का निरंतर रूप ग्रहण करते रहना 'संस्कृति' है। जिन्हें हम आदिम प्रवृत्तियाँ या 'इंस्टिंक्ट्स' कहकर पुकारते हैं वे ही संस्कृति के तलवर्ती तत्वों की धातुएं हैं। इन्हीं धातुओं के संयोग और वियोग, आकर्षण और विकर्षण से संस्कृति का मरना जीना होता है। सचाई तो यह है कि संस्कृति का जीना मरना होता ही नहीं। सहस्रों अब्दों से चली आ रही संस्कृति जब अपना प्रवाह बदल कर—उसीके समानान्तर युगों से चली आ रही संस्कृति के प्रवाह में मिल जाती है और जब परवर्ती या पूर्ववर्ती प्रवाह का पानी रंग बदल लेता है तब हम कह उठते हैं कि एक संस्कृति दूसरे पर विजित हुई है। पर पारमार्थिक सचाई इससे परे यह है कि विकास की प्रक्रिया में कोई जीता मरता नहीं वरन् निर्बाध चले आ रहे प्रवाह को बल देता है, योग देता है।

'श्रमण संस्कृति' भी एक ऐसा ही प्रवाह है जो प्रागैतिहासिक काल से मनुष्य की आदिम प्रवृत्तियों के आकर्षण विकर्षण, विजय पराजय की तरंगों का आलोड़न विलोड़न सहता अबतक विद्यमान है। चूंकि 'श्रमण' में मिहनत का खरा पानी है इसीलिये यह 'श्रमिक संस्कृति' अपना पानी, अपनी प्रतिष्ठा आज तक बनाये हुए है। तपस्या की ईंटों से जिस नींव की चिनाई हुई है उसकी दीवारें इतनी मजबूत हैं कि प्रालेय आंधियों के आने पर भी उसके ढहने का कोई डर नहीं। श्रमण संस्कृति के 'माइल स्टोन' महाश्रमण ऋषभ, पार्श्व, नेमि, महावीर, बुद्ध, कपिञ्जल, गांधी, विनोबा सभी हैं और फिर अभी पथ समाप्त नहीं है

—नेमीचन्द जैन

धर्म और पथ

—पं० सुखलाल संघवी

प्रथम अर्थात् धर्म में अन्तर्दर्शन होता है। वह आत्मा के अन्दर से उत्पन्न होता है, वहीं स्थिर रहता है, और मनुष्य को उसी ओर आकृष्ट करता है। जबकि दूसरा अर्थात् पथ में बहिर्दर्शन होता है। वह बाह्य वातावरण तथा देखादेखी से उत्पन्न होता है, इसलिये बाहर की ओर आकृष्ट करता है और मनुष्य को बाहर की तरफ देखने में रोक रखता है।

धर्म गुणजीवी और गुणावलम्बी है। पथ रूपजीवी और रूपावलम्बी है। उसका आधार बाह्य रूप रंग और ऊपरी आडम्बर है। वह वेश, कपड़ों का रंग, पहनने की रीति, पास रखने के साधन तथा उपकरणों की ओर विशेष रुचि दिखलाता है तथा उन्हीं का आग्रह कराता है।

धर्म में एकता और अभेद के भाव उठते हैं और समानता की तरंगें उछलती हैं। पथ में भेद और विषमता की दरारें पड़ती और बढ़ती जाती हैं। धर्म में मनुष्य दूसरों के साथ भेदभाव भूलकर अभेद की ओर झुकता है। दूसरे के दुःख में अपना सुख भूल जाता है, या यों कहना चाहिये कि उसके सुख दु[illegible] कोई अलग वस्तु नहीं रहते। दूसरों के सुख दुख ही उसके सुख दुख बन जाते हैं। पथ में मनुष्य अपनी वास्तविक अभेद भूमि को भूलकर भेद की तरफ अधिकाधिक झुकता जाता है। दूसरे का दुख उस पर असर नहीं करता। अपने सुख के लिए वह लालायित रहता है। या यों कहना चाहिये कि उस मनुष्य के सुख दुख दुनिया के सुख दुखों से सर्वथा अलग हो जाते हैं। इनमें मनुष्य को अपना और पराया ये दो शब्द पद पद पर याद आते हैं। धर्म में स्वाभाविक नम्रता होने के कारण मनुष्य अपने को छोटा और हलका समझता है। उसमें अभिमान सरीखा कोई भाव ही नहीं होता। चाहे जितने गुण तथा सम्पत्ति प्राप्त हो जाय वह अपने को सबसे छोटा ही देखता है। धर्म में ब्रह्म अर्थात् सच्चे जीवन की झांकी होने से उसकी व्यापकता के सामने मनुष्य को अपना व्यक्तित्व हमेशा छोटा सा प्रतीत होता है। पथ में इससे उल्टा है। इसमें गुण और वैभव न होने पर भी मनुष्य अपने को दूसरों से बड़ा मानता है और दूसरों से मनवाने का प्रयत्न कराता है। उसमें यदि नम्रता होती है तो वह बनावटी होती है। उस मनुष्य को सदा अपने बड़प्पन का खयाल बना रहता है। उसकी नम्रता बड़प्पन का पोषण करने के लिए

होती है सच्चे जीवन की भाँकी न होने के कारण गुणों की अनन्तता तथा इनकी पावनता का भान न होने के कारण पंथ में पड़ा हुआ मनुष्य अपनी लघुता का अनुभव नहीं कर सकता। वह लघुता केवल दिखावा करता है।

धर्म में सत्य की दृष्टि होती है। उसमें सभी तरफ देखने तथा जानने का धैर्य होता है। सभी पक्षों का सह लेने की उदारता होती है। पंथ में ऐसा नहीं होता। उसमें सत्याभास की दृष्टि होती है। वह सम्पूर्ण सत्य को अपने ही पक्ष में मान लेता है इसलिए दूसरी तरफ देखने तथा जानने के लिए उसका झुकाव ही नहीं होता। विरोधी पक्षों को सहने अथवा समझने की उदारता उसमें नहीं होती।

धर्म में अपना दोष दर्शन मुख्य होता है और दूसरों के गुणों का दर्शन मुख्य होता है। पंथ में इससे उल्टा है। पंथवाला दूसरों के गुणों की अपेक्षा दोष ही अधिक देखता है और अपने दोषों की अपेक्षा गुणों को ही अधिक देखता है। अपने ही गुणों का बखान करता रहता है। उसको आँखों में अपने दोष आते ही नहीं।

धर्म में केवल चारित्र पर ध्यान दिया जाता है। जाति, लिंग, उमर, वेश, चिन्ह, भाषा तथा दूसरा बाह्य वस्तुओं के लिए उसमें स्थान नहीं है। पंथ में इन बाह्य वस्तुओं पर ही अधिक ध्यान दिया जाता है। अमुक व्यक्ति किस जाति का है? पुरुष है या स्त्री? उमर क्या है? वेश कैसा है? कौन सी भाषा बोलता है? किस प्रकार उठता बैठता है? पंथ में इन्हीं बातों पर ध्यान दिया जाता है। इन्हीं को मुख्य मान कर चारित्र को गौण कर दिया जाता है। बहुत बार ऐसा होता है कि जिस जाति, लिंग, उमर, वेश या चिन्ह की पंथविशेष के अनुयायियों में प्रतिष्ठा नहीं है उन्हें धारण करके कोई अच्छे चरित्रवाला व्यक्ति भी आ जाय तो वे लोग उसकी तरफ ध्यान नहीं देते। कई बार तो उसे अपमानित करके निकाल तक देते हैं।

धर्म में सारा संसार एक ही चौका है। छोटे-छोटे चौके न होने के कारण उसमें छुआछूत या घृणा द्वेष की बात ही नहीं। यदि कोई बात बुरी समझी जाती है तो यह कि प्रत्येक व्यक्ति को अपना पाप ही बुरा लगता है। पंथ में चौकेबाजी इतनी जबर्दस्त होती है कि हर एक बात में छुआछूत की गंध आती है। इसी कारण पंथ वालों की नाक अपने पाप की दुर्गंध तक नहीं पहुँचती उन्हें जितनी दुर्गंध अपने पंथ के बाहर वालों से आती है उतनी अपने पाप से नहीं। स्वयं जिसे स्वीकार कर लिया वह उन्हें सुगन्धित लगता है। अपना पकड़ा हुआ रास्ता ही श्रेष्ठ दिखता है

धर्म और पथ



—पं० सुखलाल संघवी

प्रथम अर्थात् धर्म में अन्तर्दर्शन होता है। वह आत्मा के अन्दर से उत्पन्न होता है, वहीं स्थिर रहता है, और मनुष्य को उसी ओर आकृष्ट करता है। जबकि दूसरा अर्थात् पथ में बहिर्दर्शन होता है। वह बाह्य वातावरण तथा देखादेखी से उत्पन्न होता है, इसलिये बाहर की ओर आकृष्ट करता है और मनुष्य को बाहर की तरफ देखने में रोक रखता है।

धर्म गुणजीवी और गुणावलम्बी है। पथ रूपजीवी और रूपावलम्बी है। उसका आधार बाह्य रूप रंग और ऊपरी आडम्बर है। वह वेश, कपड़ों का रंग, पहनने की रीति, पुस्तक रखने के साधन तथा उपकरणों की ओर विशेष रुचि दिखलाता है तथा उन्हीं का आग्रह कराता है।

धर्म में एकता और अभेद के भाव उठते हैं और समानता की तरंगे उछलती हैं। पथ में भेद और विषमता की दरारें पड़ती और बढ़ती जाती हैं। धर्म में मनुष्य दूसरों के साथ भेदभाव भूलकर अभेद की ओर झुकता है। दूसरे के दुःख में अपना सुख भूल जाता है, या यों कहना चाहिये कि उसके सुख दुःख कोई अलग वस्तु नहीं रहते। दूसरों के सुख दुख ही उसके सुख दुःख बन जाते हैं। पथ में मनुष्य अपनी वास्तविक अभेद भूमि को छोड़कर भेद की तरफ अधिकाधिक झुकता जाता है। दूसरे का दुःख उस पर असर नहीं करता। अपने सुख के लिए वह लालायित रहता है। या यों कहना चाहिये कि उस मनुष्य के सुख दुःख दुनिया के सुख दुःखों से सर्वथा अलग हो जाते हैं। इसमें मनुष्य को अपना और पराया ये दो शब्द पद-पद पर याद आते हैं। धर्म में स्वाभाविक नम्रता होने के कारण मनुष्य अपने को छोटा और हलका समझता है। उसमें अभिमान सरीखी कोई बात ही नहीं होती। चाहे जितने गुण तथा सम्पत्ति प्राप्त हो जाय वह अपने को सबसे छोटा ही देखता है। धर्म में ब्रह्म अर्थात् सच्चे जीवन की झांकी होने से उसकी व्यापकता के सामने मनुष्य को अपना व्यक्तित्व हमेशा छोटा सा प्रतीत होता है। पथ में इससे उल्टा है। इसमें गुण और वैभव न होने पर भी मनुष्य अपने को दूसरों से बड़ा मानता है और दूसरों से मनवाने का प्रयत्न करता है। उसमें यदि नम्रता होती है तो वह बनावटी होती है। उस मनुष्य को सदा अपने बड़प्पन का ख्याल बना रहता है। उसकी नम्रता बड़प्पन का पोषण करने के लिए

होती है इन्हें जीवन की झांकी न होने के कारण गुणों की अनन्तता तथा अपनी पामरता का भान न होने के कारण पंथ में पड़ा हुआ मनुष्य अपनी लघुता का अनुभव नहीं कर सकता। वह लघुता का केवल दिखावा करता है।

धर्म में सत्य की दृष्टि होती है। उसमें सभी तरफ देखने तथा जानने का धैर्य होता है। सभी पक्षों को सह लेने की उदारता होती है। पंथ में ऐसा नहीं होता। उसमें सत्याभास की दृष्टि होती है। वह सम्पूर्ण सत्य को अपने ही पक्ष में मान लेता है इसलिए दूसरी तरफ देखने तथा जानने के लिए उसका झुकाव ही नहीं होता। विरोधी पक्षों को सहने अथवा समझने की उदारता उसमें नहीं होती।

धर्म में अपना दोष देखना मुख्य होता है और दूसरों के गुणों का स्थान मुख्य होता है। पंथ में इससे उल्टा है। पंथवाला दूसरों के गुणों की अपेक्षा दोष ही अधिक देखता है और अपने दोषों की अपेक्षा गुणों को ही अधिक देखता है। अपने ही गुणों का बखान करता रहता है। उसकी आंखों में अपने दोष आते ही नहीं।

धर्म में केवल चारित्र पर ध्यान दिया जाता है। जाति, लिंग, उमर, वेश, चिन्ह, भाषा तथा दूसरी बाह्य वस्तुओं के लिए उसमें स्थान नहीं है। पंथ में इन बाह्य वस्तुओं पर ही अधिक ध्यान दिया जाता है। अमुक व्यक्ति किस जाति का है? पुरुष है या स्त्री? उमर क्या है? वेश कैसा है? कौन-सी भाषा बोलता है? किस प्रकार उठता बैठता है? पंथ में इन्हीं बातों पर ध्यान दिया जाता है। इन्हीं को मुख्य मान कर चारित्र को गौण कर दिया जाता है। बहुत बार ऐसा होता है कि जिस जाति, लिंग, उमर, वेश या चिन्ह की पंथविशेष के अनुयायियों में प्रतिष्ठा नहीं है उन्हें धारण करके कोई अच्छे चरित्रवाला व्यक्ति भी आ जाय तो वे लोग उसकी तरफ ध्यान नहीं देते। कई बार तो उसे अपमानित करके निकाल तक देते हैं।

धर्म में सारा संसार एक ही चौका है। छोटे-छोटे चौके न होने के कारण उसमें छुआछूत या घृणा द्वेष की बात ही नहीं। यदि कोई बात बुरी समझी जाती है तो यह कि प्रत्येक व्यक्ति को अपना पाप ही बुरा लगता है। पंथ में चौकेबाजी इतनी जबरदस्त होती है कि हर एक बात में छुआछूत की गंध आती है। इसी कारण पंथ वालों की नाक अपने पाप की दुर्गंध तक नहीं पहुंचती उन्हें जितनी दुर्गंध अपने पंथ के बाहर वालों से आती है उतनी अपने पाप से नहीं। स्वयं जिसे स्वीकार कर लिया वही उन्हें सुगंधित लगता है। अपना पकड़ा हुआ रास्ता ही श्रेष्ठ दिखता है।

उसके सिवाय सभी मददूदार तथा सभी मार्ग अपने से घटिया मालूम पड़ते हैं।

संक्षेप में कहा जाय तो धर्म मनुष्य को दिन रात पुष्ट होने वाले भेदभाव के संस्कारों से निकाल कर अभेद की तरफ धकेलता है। पंथ इन संस्कारों को अधिकाधिक पुष्ट करता है। यदि दैवयोग से कोई अभेद की तरफ आवे तो पंथ को सन्ताप होता है। धर्म में दुनिया के छोटे बड़े झगड़े, ज़र, जोरू, ज़मीन, छुटपन, बड़प्पन आदि के सब तकरार शान्त हो जाते हैं। पंथ इसमें ऐसा मालूम पड़ने लगता है कि झगड़े के बिना धर्म की रक्षा ही नहीं हो सकती।

धर्म और पंथ का अन्तर समझने के लिए पानी का उदाहरण लें तो पंथ ऐसा पानी है जो समुद्र, नदी, तालाब, कुआ आदि मर्यादाओं से भी अधिक संकुचित होकर हिंदुओं के पानी पीने के घड़े में पड़ा हुआ है। किसी दूसरे व्यक्ति के छूते ही इसके अपवित्र एवं भ्रष्ट हो जाने का डर है। धर्म आकाश से गिरते हुए वर्षा के पानी सरीखा है। इसके लिए कोई स्थान या व्यक्ति ऊंचा नीचा नहीं है। इसमें एक जगह एक स्वाद और दूसरी जगह दूसरा स्वाद नहीं है। इसमें रूप रंग का भी भेद नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति इसे प्राप्त कर सकता है और पचा सकता है। पंथ हिंदुओं के घड़े के पानी सरीखा होता है। उसके लिए अपने सिवाय दूसरे सब पानी अस्पृश्य होते हैं। उसे अपना स्वाद और अपना ही रूप अच्छा लगता है। प्राणान्त होने पर भी पंथ दूसरों के घड़े को छूने से रोकता है।

पंथ यद्यपि धर्म में से ही उत्पन्न होता है और अपने को धर्म का प्रचारक मानता है किन्तु हमेशा धर्म का घात ही करता रहता है। जैसे जीवित रुधिर तथा मांस में से बना हुआ नख जैसे जैसे बढ़ता जाता है वैसे वैसे रुधिर और मांस को भी नुकसान पहुँचाता है। इसलिए जब बढ़े हुए नख को काट दिया जाता है तभी हाड़ पिंजर सुरक्षित रहते हैं। इसी प्रकार धर्म से अलग पड़ा हुआ पंथ, चाहे वह धर्म में से ही पैदा हुआ हो, जब काट कर साफ कर दिया जाता है तभी मानव समाज सुखी होता है। यहाँ यह प्रश्न होता है कि धर्म और पंथ में किसी प्रकार का मेल है या नहीं, और यदि है तो किस तरह? इसका उत्तर सरल है। जीवित नख को कोई नहीं काटता यदि वह कट जाय तो दुःख होता है। रुधिर और मांस की रक्षा को भी धक्का पहुंचता है। वे सड़ने लगते हैं। इसी प्रकार पंथ में यदि धर्म का जीवन हो तो हजार पंथ भी बुरे नहीं हैं। जितने मनुष्य हैं, चाहे उतने पंथ हो जायं फिर भी लोगों का कल्याण ही

होगा। क्योंकि इस में प्रकृति भेद और दूसरी विशेषताओं के अनुसार हजारों मतभेद होने पर भी क्लेश नहीं होगा, प्रेम बना रहेगा। अभिमान नहीं होगा, नम्रता बनी रहेगी। शत्रुभाव नहीं होगा, मित्रता कायम रहेगी। उत्तेजना नहीं होगी, क्षमा-भाव स्थिर रहेगा। पंथ पहले थे, अब हैं और आगे रहेंगे। उनमें सुधारने या करने लायक इतना ही है कि उससे अलग पड़े हुए धर्म के तत्व को फिर से उसमें डाल दिया जाय। हम किसी भी पंथ को मानें किन्तु उसमें धर्म के तत्वों को सुरक्षित रखते हुए ही उसका अनुसरण करें। अहिंसा के लिए हिंसा न करें। सत्य के लिए असत्य न बोलें। पंथ में धर्म के प्राण फूकने की बात यही है कि हमारी दृष्टि सत्य का आग्रह करने वाली बन जाय। संक्षेप में सत्याग्रही के लक्षण इस प्रकार हैं—

(१) स्वयं जिस बात को मानते या करते हों उसकी पूरी समझ होनी चाहिए। अपनी समझ पर इतना विश्वास होना चाहिए कि दूसरे को स्पष्टता और दृढ़ता के साथ समझा सकें।

(२) अपनी मान्यता के विषय में हमारी समझ तथा हमारा विश्वास यथार्थ है, इसकी कसौटी यही है कि दूसरे को समझाते समय हमें तनिक भी आवेश या क्षोभ न आवे। दूसरे को समझाते समय अपनी मान्यता की विशेषता के साथ यदि कुछ त्रुटियां भी मालूम पड़ें तो उन्हें भी बिना संकोच स्वीकार करता जाय।

(३) जिस प्रकार अपनी दृष्टि समझाने का धैर्य चाहिए, उसी प्रकार दूसरे की दृष्टि समझने के लिये भी पूरी उदारता तथा तत्परता होनी चाहिए। एक वस्तु के विषय में जितने पक्ष तथा जितने दृष्टिकोण हों सकें सभी की समानता करके बलाबल जानने की वृत्ति होनी चाहिए। इतना ही नहीं यदि अपना पक्ष निर्बल और भ्रान्त मालूम पड़े तो उसका त्याग करने में इतनी प्रसन्नता होनी चाहिए जितनी स्वीकार करते समय भी न हुई थी।

(४) सम्पूर्ण सत्य देश, काल अथवा संस्कारों से सीमित नहीं होता। इस लिए प्रत्येक पहलू में जो खंड सत्य रहा हुआ है, उन सबका समन्वय करने की वृत्ति होना चाहिए।

पंथ में धर्म नहीं है इसीलिए पंथ समाज और राष्ट्र के लिए घातक बने हुए हैं। जहां समाज और राष्ट्र की एकता का प्रश्न आता है वहीं पर निष्प्राण पंथ आड़े आ जाते हैं। धर्म जनित पंथों की सृष्टि तो मानव समाज तथा विश्वमात्र को एक करने के लिए हुई थी। इस कार्य करने का पंथ दावा भी करते हैं। किन्तु हम देख रहे हैं कि पंथ ही हमारे एक होने और मिलने में रोड़ा अटका रहे हैं। पंथ का अर्थ और

कुछ नहीं है। उसका अर्थ है, धर्म के नाम पर उत्पन्न तथा पुष्ट हुए हमारे मानसिक संकोच का मिथ्याभिमान जब लोक-कल्याण या राष्ट्र कल्याण के लिए एक साधारण सी बात को अचलित करता होता है तो पंथ के अहंरीले और सङ्कुचित संस्कार आकर कहते हैं– सावधान ! तुम ऐसा नहीं कर सकते। ऐसा करोगे तो धर्म रसातल में चला जायगा। लोग क्या समझेंगे और क्या कहेंगे ! कोई दिगम्बर या श्वेताम्बर या अन्य कोई अपने पक्ष की तरफ से चलने वाले झगड़े में भाग न ले अथवा ऐसा होने पर भी उस झगड़े के पक्ष में दान देने से इन्कार करे, न्यायालय में प्रभाव होने पर भी साक्षी न बने तो उसका पंथ उसके लिए क्या करेगा ? मुसलमानों का ताज़िया अथवा हिंदू-मन्दिर के पास से ताज़िया ले जा रहा हो और कोई सच्चा मुसलमान हिंदुओं की भावना न दुखाने के उद्देश्य से दूसरे रास्ते जाने को कहे या गौ हत्या करने की मनाही करे तो उस मुसलमान के साथ पंथ वाले कैसा व्यवहार करेंगे ? एक आर्यसमाज का सभ्य कभी सच्ची दृष्टि से मूर्ति के सामने बैठ जाय तो उसका समाज पंथ उसके लिए क्या करेगा ? इसप्रकार पंथ सत्य और एकता के आड़े आ रहे हैं। अथवा यों कहना चाहिए कि हम स्वयं पंथमय संस्कार के शस्त्र से सत्य और एकता के साथ द्रोह कर रहे हैं। इसीलिए पंथ का अभिमान करने वाले तथा बड़े बड़े माने जाने वाले धर्मगुरु, पंडित या पुरोहित कभी आपस में नहीं मिल सकते। वे कभी एकरस नहीं हो सकते। जबकि साधारण मनुष्य आसानी से मिल सकते हैं। आप देखेंगे कि एकता और लोक कल्याण का दावा करने वाले पंथ के गुरु ही एक दूसरे से अलग-अलग रहते हैं। यदि ये धर्मगुरु एक हो जावें अर्थात् एक दूसरे का आदर करने लगें, साथ मिल कर काम करें और झगड़े को पैदा ही न होने दें तो समझना चाहिए कि अब पंथ में धर्म आगया है।

हमारा कर्तव्य है पंथों में धर्म को लावें। यदि ऐसा न हो सके तो पंथों को मिटा दें। धर्म शून्य-पंथ की अपेक्षा बिना पंथ का मनुष्य या पशु होना भी लोक हित की दृष्टि से अधिक अच्छा है। इसमें किसी को विवाद नहीं हो सकता।

[अनु० इन्द्रचन्द्र, एम० ए०]



रे मन तेरी को कुटेव यह।

रे मन तेरी को कुटेव यह
मरन-विषय में धावै है। रे मन० ॥

इनही में वश तू अनादि से,
निज स्वरूप न लखावै है।
पराधीन छिन-छिन समाकुल,
दुरगति विपति चखावै है। रे मन० ॥१॥

फरस विषय के कारन वारन,
गरत परत दुख पावै है।
रसना इन्द्रीवश झष जलमें,
कंटक कंठ छिदावै है।
गंध लोल पंकज मुद्रित में,
अलि निज प्रान खपावै है।
नयन विषय वश दीपशिखामें,
अंग पतंग जरावै है। रे मन० ॥३॥

करन विषय वश हिरन अरनमें,
खलकर प्रान लुनावै है।
दौलत तज इनको जिनको भज,
यह गुरु सीख सुनावै है॥
रे मन तेरी को कुटेव यह
मरन में धावै है॥ रे मन० ॥४॥



गति का गीत

श्री स्वरूप कुमार गांगेय

इक अडिग विश्वास पर, डग भर रहा हूँ—बढ़ रहा हूँ।
सघन, समुचित सजल निशि मे, सतत सत्वर चल रहा हूँ"
तन विकम्पित, मन व्यथित है,
प्राण का प्रति-पल कुपित है,
जिन्दगी का स्वर थकित है,
मंजिलों का पथ अमित है,
मैं किसी परिताप्त प्रण की, प्रखरता में चल रहा हूँ।
इक अडिग विश्वास पर, डग भर रहा हूँ-बढ़ रहा हूँ"
दिग-दिगन्तों की प्रवाही-
आग मुझको घेरती है,
लप लपाती सर्पिणी सी,
काल निशि भी भृकुटी है
इस विभीषक मूकता में, भी विभावित चल रहा हूँ।
इक अडिग विश्वास पर, डग भर रहा हूँ—बढ़ रहा हूँ।
बहुत है शैथिल्य मुझ में,
विवशता है-विकलता है,
दृष्टि के विस्तार में तो
विषमता है-कुटिलता है,
श्वास की भोली डगर पर, मैं अनागद चल रहा हूँ।
इक अडिग विश्वास पर, डग भर रहा हूँ-बढ़ रहा हूँ।
जानता हूँ यों कि बेबस,
मौत के क्षण जी रहा हूँ,
अनमनी इस जिन्दगी से,
दूर बहता जा रहा हूँ।
पर प्रकम्पित पथिक, सा मैं दामिनी लख चल रहा हूँ।
इक अडिग विश्वास पर, डग भर रहा हूँ-बढ़ रहा हूँ"
है विजय की रागिनी
द्रुत-गामिनी-उन्मादिनी-सा,
अवनि-अम्बर मे तरंगित,
अपरिमित कल्लोलिनी सी।
इन निनादित लहरियों पर, मैं विचिकि [illegible] रहा हूँ।
इक अडिग विश्वास पर, डग भर [illegible] ।।

सत्य कैसे खोजा जाय ?

महात्मा भगवानदास

हमारे जीवन म भूलें भरी पड़ी हैं। यह कहना बढ़कर कहना नहीं होगा कि भूलों से ही हमारा जीवन बना है।

हमारे जीवन में अंधेरा है। हम अंधेरे में ऐसे जी रहे हैं मानों उजाले में हों।

इस भूल भरे और अंधेरे म बीतने वाले जीवन में एक ही खूबी है कि इन भूलों और अंधेरेमें हम जिसको ढूंढते फिरते हैं वह बेहद चमकदार और सत्य है। यह भी अच्छा ही है कि सत्य और हमारे बीच में पड़े हुए पर्दे धीरे धीरे उठते हैं और बारी-बारी से उठते नहीं तो हम एक दम सत्य की चमक देखकर अन्धे हो जाते और कुछ भी न देख पाते।

हमारे मस्तक की मालदारी इसी से नापी जाती है कि हमारी सत्य की जानकारी कितनी है। और मालदार बनना किसे नहीं सुहाता। इसलिये मालदार बनने के लिये इससे बड़ा और कौन धंधा हो सकता है कि हम सत्य की खोज में लग जायें।

तरक्की देशों की हड्डियां सत्य की बनी हुई हैं। उनका मज्जा और चरबी सत्य की बनी हुई है। उनकी मास पेशियां सत्य की बनी हुई हैं। उनमें सत्य का ही खून बहता है। उनके कान आंख, जीभ, सब सत्य हैं और सत्य ही उनकी जान है। सत्य और उन्नति एक ही चीज है। यह सुनकर अचरज नहीं होना चाहिये कि हम सबको पैदा होते ही सबसे पहले सत्य की भूख लगती है और वह भूख मरते दमतक कभी नहीं मिट पाती है, बढ़ती ही रहती है। उस भूख को मिटाने के लिये जब कभी हम एक कण भी मिल जाता है तो हमारी खुशी का ठिकाना नहीं रहता। उस सत्य के एक कण से ही हम बुरे से भले बन जाते हैं, नीचे से ऊंचे उठ जाते हैं, अपवित्र से पवित्र बन जाते हैं। हमारा आदमी के रूप में पैदा होना सफल हो जाता है।

अब एक आपबीती सुनिए—

"सन् १८६६ का जिक्र है, मैं था बारह बरस का। मन्दिर में शास्त्र सभा हो रही थी। उस सभा में मैं अकेला ही सबसे छोटा था। मुझसे बड़ा एक और लड़का था, जो सोलह बरस का होगा। भादों का आखरी दिन था। उस दिन प्रतिज्ञा लेने का रिवाज पुराना है। रिवाज की रस्म निभाने के लिये शास्त्र-सभा के खतम होने पर प्रतिज्ञा लेने का नम्बर आया। सोलह बरस के उस लड़के ने तो यह प्रतिज्ञा ली कि वह एक महीने तक दिया नहीं जलाया करेगा। उसकी यह प्रतिज्ञा सुनकर उसका बाप हँस पड़ा

भी हँस दिए। बाप तो यों हँसा कि दूकान का दिया जलाने का काम उस लड़के के सुपुर्द था और बस वही एक काम उसके सुपुर्द था। उसने एक काम न करने की प्रतिज्ञा लेकर उससे भी छुट्टी पा ली। इस काम की वजह से शामको खेल में बाधा पड़ती थी इस लिए वह इस के सिवा और क्या प्रतिज्ञा लेता ? और लोग यों हँसे कि वे यह समझ ही नहीं पाए कि यह अनोखी प्रतिज्ञा किस लिए ली जा रही है।

अब मेरी बारी आई। मैंने उस दिन के लिए निर्जल व्रत रखने की प्रतिज्ञा की। यह बात दिन के नौ बजे की है। शास्त्र सभा ने पहले मन नाश्ते के तौर पर भी कुछ चीज न ली थी। उस दिन घर में, मैं, मेरी माँ और मेरी बड़ी बहन थी और कोई घर पर नहीं था। मां और बहन पहले ही से उस दिन कुछ न खाने का व्रत लिए हुए थीं इस लिए शास्त्र सभा में आने के पहले मेरे लिए हलवा, पूड़ी और शाक बनाकर तैयार कर दिया गया था पर अब मैं भी प्रतिज्ञा ले चुका था इसलिए उस खाने का कोई उपयोग न रह गया था।

मंदिर में जिस वक्त प्रतिज्ञा ली थी, मेरी मां और बहन दोनों ही वहाँ मौजूद थीं। पर उनमें से किसी ने मुझे प्रतिज्ञा लेने से नहीं रोका क्योंकि ऐसा करना समाज की नज़र में बुरा समझा जाता है।

घर आकर बहन ने तो कुछ समझाया-बुझाया भी पर मां ने एक शब्द भी नहीं कहा।

मेरे ऊपर मन का बड़ा गहरा रंग चढ़ा और इतना गहरा चढ़ा कि मैं अपने साथियों के साथ खेलने तक को नहीं गया। घर में बैठे ही धर्म की किताबें पढ़ता रहा। तीन बजे तक कोई तकलीफ नहीं हुई। उसके बाद से पित्त बढ़ना शुरू हुआ और पीले रंग की हलकी सी कै हुई। बहन दौड़ी दौड़ी आई और उसने मुझे कुल्ला कराना चाहा पर मैंने कुल्ला करने से इन्कार कर दिया क्योंकि मैं यह समझता था कि कुल्ले के बहाने पानी मुँह में जाना भी व्रत तोड़ना है। इसलिए मैंने हाथ धोकर होंठ भर पोंछ लिए। एक कै से ही मेरी तबियत निढाल हो गई। बहन ने मेरे लिए चारपाई बिछा दी। मां यह सब देख रही थी पर वह बिलकुल कुछ न बोली। आध घंटे के बाद फिर कै हुई। फिर मां बहन ने ही संभाला उस कै के बाद थोड़ा चैन मिला। घंटे भर के बाद फिर कै हुई और खूब पित्त गिरा। अब मां पास आकर खड़ी हो गईं पर और सब काम बहन ही करती रही। जब फिर मैं चारपाई पर लेट गया तो मां ने मेरी बहन को किसी काम के लिए किसी के घर भेज दिया और उसके चले जाने के बाद वह मुझे समझाने बैठ गईं।

'देखो बेटा, तुमने कल पाँच बजे खाना खाया था उसके बाद अबतक खना नहीं खाया और देखो अब पाँच बज ई पूरे चौबीस घंटे हो गए। चौबीस घंटे का एक दिन होता है इसलिये तुम्हारा एक दिन का व्रत पूरा हो चुका।

'पर अम्मा, व्रत तो मैंने नौ बजे लिया। कल नौ बजे चौबीस घंटे होंगे।'

'यह तो ठीक है पर तुम्हारी तबियत इतनी निढाल हो गई है कि व्रत में दिन में जितनी शांति रहनी चाहिये उतनी शांति तुम अपने मन म नहीं रख सकोगे।'

'अम्मा यह तो तुम ठीक कह रही हो पर व्रत तो दुख मानकर ही निभाए जाते हैं। शास्त्र में तो सारी कथाएं ऐसे ही पढ़कर सुनाई जाती हैं।'

'बेटा, यह तो तुम ठीक कहते हो। पर व्रत का आनन्द तो उस वक्त चला देता है जब चित्त व्रत से डिगने की बात सोचने लगता है। अब तुम ही बताओ क्या तुम्हारे मन में इस वक्त यह बात नहीं आ रही है कि अगर कोई न हो तो तुम चुपके से अगर और कुछ न मिले तो पानी ही पी लो।'

'हाँ अम्मा ऐसी बात तो मन में आ रही है। मेरा जी तो बार बार कुछ खाने को भी मचलता है।'

'तो मैं शरबत लाऊँ।'

'ना अम्मा, शरबत पीने से तो व्रत टूट जायगा।'

'हा टूट जायगा, पर तुम्हारे मन ने तो व्रत बहुत पहले से तोड़ रखा है। तुम्हारी चालाकी व्रत का खेल कर रही है।

'अम्मा, म तुम्हारी बात तो नहीं समझा। पर इतना जरूर जानता हू और कह सकता हू कि मेरा मन खाने के लिये बहुत मचल रहा है। और अम्मा म सच सच कहता हूँ कि मैं तुमसे तो बिलकुल नहीं डरता। तुम्हारे सामने तो म शबत क्या, खाना भी खा सकता हूँ पर जीजी के सामने तो ऐसा नहीं कर सकता। जीजी चाहे मेरी हँसी न भी उड़ाए पर जीजी यह सब बात मेरे साथियों तक जरूर पहुँचा देगी। और फिर मेरे साथी मुझे क्या समझेंगे। मेरी खिल्ली उड़ाएंगे और और जमाली, जिसने दिया न जलाने की प्रतिज्ञा ली है वह तो मुझसे कहीं आगे बढ़ जायगा और मेरी हसी करेगा।

'तो क्या तुम, हसी के डर से और तारीफ के लोभ से अपने मन को बिगड़ने दोगे? और यह ठीक है कि अगर तुम चाहो तो म तुम्हारी बात किसी तक न पहुचने दू गी। पर मैं इस बात म तुम्हारा भला नहीं समझती। हाँ यह ठीक है कि मैं जीजी की तरह से तुम्हारी बात तुम्हारे साथियों स नहीं कहूँगी। मैं जिस तरह कहूँगी

उससे तुम्हारे साथियों में तुम्हारी इज्जत घटेगी नहीं। सचाई से कहीं इज्जत घटती है, उससे तो इज्जत और बढ़ती है।'

'अम्मा, तो क्या तुम भी मेरे साथियों से मेरे खाने पीने की बात कह दोगी?

'नहीं, तुम अगर चाहोगे तो नहीं कहूँगी पर मैं यह नहीं चाहती कि तुम यह चाहो कि मैं तुम्हारे साथियों से यह बात न कहूँ।'

'अम्मा, जब तुम उनसे कहोगी तो वह मेरा हँसा नहीं उड़ाएँगे।'

'मैं जिस तरह कहूँगी, उससे तो ऐसा मालूम होता है कि वह तुम्हारी हँसी नहीं उड़ाएँगे। और अगर वे तुम्हारी हँसी उड़ावें भी तो क्या तुम हँसी उड़ाने से बचने के लिए झूठ बोलना पसन्द करोगे? फिर क्या व्रत का फायदा रह जायगा?'

'अम्मा, तुम बात तो बिलकुल ठीक कहती हो पर मेरा मन झूठ बोलने से इतना नहीं डरता जितना अपनी हँसी उड़ती देखने से।'

'बेटा, इस बुरे धर्म का रिवाज पड़ गया है और इसी रिवाज की तुम्हें भी आदत है। इसलिए झिझक होती है। जब सच बोलने की आदत हो जायगी और हँसी उड़वाने की बरदाश्त तुम में आ जायगी तो फिर झूठ बोलने झिझक हुआ करेगी और हँसी उड़ने का कोई डर नहीं रह जायगा। देखो अब तुम सोचो नहीं, शर्बत पीकर अपना मन पूरा करलो और फिर यह व्रत तोड़ना भी कहाँ है। चौबीस घंटे तुमको हो ही गए। इसलिए एक दिन पूरा हो गया। बस अब तुम शर्बत पी लो। दो एक घंटे के बा... रबड़ी जैसी चीज खा लेना।

'अम्मा, तुम तो मेरा मन ललचा रही हो।'

'न, बेटा, ऐसा नहीं। मैं तुमको सच का पाठ दे रही हूँ। मैं अपने बेटे का मन क्यों ललचाने लगी?'

'अम्मा, तो जीजी नहीं हँसेगी?'

'ज़रूर हँसेगी। पर जब मैं उसे समझा दूँगी तो वह नहीं हँसेगी।'

'और मेरे और साथी नहीं हँसेंगे?'

'वे भी ज़रूर हँसेंगे। उनको भी समझाना पड़ेगा।

'और तुम समझती हो कि तुम उनको समझा लोगी।'

'हो सकता है वे मेरे समझाए न समझें। पर इससे क्या? वे समझें या न समझें। मुझे तो अपने बेटे को समझाना है। और उसे सच्चा और पक्का बनाना है। अब तुम बताओ कि तुम भी मेरी बात समझ गये कि नहीं?'

'अम्मा, मैं समझा तो कुछ नहीं। हाँ, मेरा मन तुम्हारे कहने पर शर्बत पीने को तैयार है और रात को कुछ खा लेने के लिए भी तैय्यार है।'

'हां यह तुम्हारे लिये मुश्किल है कि तुम समझने और समझ जाने पर भी यह समझ सको कि तुम समझ गए हो और यह तो और भी मुश्किल है कि तुम मुझे बता सको कि तुम समझ गए हो। पर मैंने यह समझ लिया है कि तुम्हारा मन सचाई को समझ गया और यह सचाई मन से नीचे उतर कर वहां जा पहुंची है जहां से अब वह जल्दी भागने वाली नहीं।'

'अम्मा न जाने तुम क्या कहती हो। मेरी समझ में नहीं आता। मैं तुम्हारे कहने से साथी लूंगा और मेरे साथी जब मुझसे पूछेंगे तो मैं डरे बिना उनसे सच सच कह दूंगा। और वह फिर मेरी हंसी उड़ायेंगे, तो मैं कह दूंगा कि मैं कुछ नहीं जानता हूं। अम्मा ने कहा और मैंने मान लिया।'

'अपने साथियों के साथ तुम्हारा यह तर्क तो ठीक रहेगा ही पर क्या तुम्हारे मन में ऐसी बात नहीं उठती कि तुम झूठ न बोलकर अब निडर होकर सच बोल सकोगे।'

'अम्मा, यह तुम कह रही हो इसलिए मान लेता हूं। मेरे मन पर तो अभी भी व्रत न तोड़ने का धर्म ही सवार है।'

'बेटा, यों नहीं यों कहो कि मेरे मन पर तो अभी व्रत न तोड़ने का ही भूत सवार है।'

मैं अम्मा की यह बात सुनकर एकदम खिल उठा। पर मैं उस वक्त यह नहीं समझ पाया कि मैं क्यों खिल उठा था। मैं अम्मा के उस उपदेश का पूरा पूरा तत्व तब समझ पाया जब मैंने धर्म के एक बड़े ऊंचे ग्रंथ में यह लिखा देखा कि 'जोश में आकर बाल बुद्धि से या कम जानकार गुरुओं के उपदेश से या गुस्से में आकर जो प्रतिज्ञाएं कर ली जायें उनको तोड़ते हुए अगर डर लगे तो यही समझना चाहिए कि धर्म का सच्चा श्रद्धान तुममें नहीं है।'

मैं नहीं जानता मेरी अनपढ़ माता में इतना ऊंचा तत्व कहां से और कैसे आगया। मैं इसके सिवा क्या कह सकता हूं कि उसमें सत्य के समझने की सहज बुद्धि थी। एक नहीं अनेक बार उन्होंने मुझे ऐसी सीख दी जिसको मैं उस वक्त तो उसको मां के नाते ही मान लेता था। पर बड़े होकर ही मैं समझ पाया कि मेरी मां की सीख हर तरह से इस योग्य थी कि उसको गुरु की सीख के समान आदर दिया जाय और वैसा आदर मैंने दिया भी। उन्हीं सीखों के बल पर आज मैं बिना किसी झिझक के यह कह सकता हूं कि अपने आप अपने अन्दर तक करने से सत्य जरूर खोजा जा सकता है। हमारे तर्क सत्य की खोज में बड़े मददगार साबित होते हैं। सत्य खोज की चीज है और वह खोजने से ही मिलती है।

सत्य के खोजने में किसी योग्यता की शर्त लगाना खोजी को खोज से रोकना है। हर आदमी को अपनी योग्यता के अनुसार सत्य की खोज में

लगने देना चाहिए। जब तक इस रास्ते में समाज व्यक्ति को पूरी आज़ादी नहीं देगा तब तक व्यौहारी सचाइ का कुछ हिस्सा भले ही आदमी के हाथ लग जाय पर पारमार्थिक सत्य का एक अंश भी उसके हाथ न लग पायगा।

जिस आदमी को किसी तरह की रोक नहीं है, जिसके लिए कोई बात छिपी हुई नहीं है जिसको कुछ भी करने की मनाही नहीं है, वह आदमी पारमार्थिक सत्य को जितना जल्दी पा सकता है उतनी जल्दी कोई नहीं पा सकता। पुराण हमें चिल्ला चिल्ला कर यही इशारा कर रहे हैं कि पुण्य-कमल पाप की कीचड़ से ही खिलता है। अंधेरे से ही घबरा कर हम प्रकाश की ओर भागते हैं। अंधेरा हम में प्रकाश की चाह पैदा करता है।

जो सत्य ऐसा है जिसके समझने की किसी के लिए भी मनाही है वह सत्य ही नहीं हो सकता। जिस देवता के पास किसी एक को भी जाना मना है, वह देवता नहीं बनावटी देवता है।

बस सत्य की खोज में लगने वाले को यह समझ ही लेना चाहिए कि वह खोज के रास्ते में इस लोक और परलोक में दुख से कभी न घबरायगा। इतना उसे और भी समझ लेना चाहिए कि पारमार्थिक सत्य कोई ऐसी चीज़ नहीं है जो एकांत में बैठकर पहाड़ों की गुफा में आसन लगा कर, के मतलब सर्दी, गर्मी, बरसात के दुख सहकर सिर्फ़ मनन चिंतन से हाथ आ जाय, उसके लिए तो उसका मस्तक मन के साथ-साथ तन से तुम हाथ और पैरों से ऐसा ही काम लेना पड़ेगा जैसे मजदूर अपने पेट के लिए, रोटी जुटाने के लिए, उनसे काम लेता है। मजदूर जिन हाथों से रोटी जुटाता है, सत्य का खोजी मस्तक मन की मदद से उन्हीं हाथों से सत्य की खोज निकालेगा।

यह ठीक है सभी सन्त महन्ता ने और सभी महापुरुषों ने सत्य खोजने के लिए हजारों वर्ष से चले आए रिवाज के अनुसार पहाड़ों की गुफाओं में आसन जमा कर, शिलाओं से अपना माथा टकराया है। पर अन्त में वे इसी नतीजे पर पहुँचे कि उनका वह चिंतन समय का बर्बाद करना ही रहा। सत्य तो उनको समाज के भीतर प्रवेश करके ही हाथ आया। एक ऋषि ने क्या ही अच्छा कहा है कि इच्छाओं पर काबू पाना ही तपस्या है, देह की तपस्या तो देह को बेकाबू कर देना है।

इच्छाएँ काबू में आई नहीं कि मस्तक खिला, मनमें विशालता आई, उदारता ने जगह पाई और हाथ और पाव में सरसराहट आई और फिर वह इस ढंग से बढ़े कि सत्य का कोई न कोई हिस्सा उसके हाथ लगा।

ओ! मानवता के कर्णधार !!

(प्रकाश "उत्पल")

ओ, मानवता के कर्णधार धरती पर आ जाओ नीचे!

है ठीक कि, उस युग में तुमने
ही हमको राह बताई थी,
घृणा द्वेष हिंसा के शव—
पर जीवन-ज्योति जगाई थी,
युग बीते तुमको देवों की
दुनिया में सोते पड़े पड़े
ले आज प्रतीक्षामय आँखें—
तेरे चिन्हों पर आज खड़े;

हम गीत तुम्हारे गाते हैं, हो समाधिस्थ आँखें मींचे!

तुम जगो! जगो! हम महानाश
के आलिंगन में बन्दी हैं,
स्वयं मनुजता के शव पर
मानव मानव प्रतिद्वंदी है
तुम महानाश से पहले ही
थामो जीवन के स्पन्दन को,
आओ, तोड़ो शोषित पीड़ित—
मानव के उलझे बन्धन को,

सिर पर धर दो आ वरद हस्त, आँसू से मानवता सींचे!

उसकी याद

(श्री कुंजबिहारीलाल पाण्डेय)

उसकी आज याद आई है।

जन मंगल कल्याण भावना से जिसने जग को दुलराया।
ज्ञान धर्म का पाठ पढ़ाते थकी न जिसकी निर्मल काया।
जैनधर्म का दीप जलाया, नवयुग के आंगन में जिसने।
मानवता का सच्चा पथ दिखलाया नर पशुओं को जिसने।

पाटी भेदभरी खाई है।
उसकी आज याद आई है॥

चेतन क्या! जड़ तरु को जिसने, 'दया करो' आदेश सुनाया
क्रूर हृदय के मरुस्थलों में, शान्ति-सुधा का स्रोत बहाया।
गिरि, वन, सरिताओं का अन्तस्तल सबमें जीवन गान भर गया
सूरज, चांद, सितारों की आभाओं का अभिमान भर गया।

जिससे धरती अमराई है।
उसकी आज याद आई है।

स्वतन्त्रता की शुभ रश्मियों ने जिसका शृंगार किया था।
अणु अणु ज्योतिर्मय कर जिसने अखिल विश्व को प्यार किया था
सर्वोदयता थी, 'सर्व सुखिन भवन्तु' की सार्थकता थी।
जिसमें समता ममतामय जनप्रियता की अद्भुत क्षमता थी।

जग में जिसकी अरुणाई है।
उसकी आज याद आई है।

दिगम्बर

—जैनेन्द्रकुमार

मनुष्य नंगा है तो सब लाज नहीं [illegible]। ढंका है तब भी वस्त्र उसके [illegible] नहीं जाते। वस्त्रों का उपयोग [illegible] के [illegible] ही है।

वस्त्र का समर्थन दो प्रकार के कारणों से है, एक दैहिक, दूसरा सामाजिक। वस्त्र सर्दी-गर्मी से हमें बचाते हैं और लज्जा ढंकने का काम करते हैं।

दैहिक कारण का जहाँ तक सम्बन्ध है वस्त्र की उपयोगिता स्पष्ट है। सर्दी गर्मी ऋतु प्रभाव से आती ही हैं। फिर भी उनसे बचने के लिए किसी को कम और दूसरे को ज्यादा कपड़ों का [illegible] होता है। पशु-पक्षी बिना वस्त्र के ही काम चलाते हैं। जंगली [illegible] या आदमी अवस्था में सब लोग [illegible] से काम लिया करते थे, [illegible] शरीर की सहिष्णुता और [illegible] थी। पशु-पक्षियों का शरीर ऋतुओं के प्रति अनायास [illegible] सहिष्णु है और प्रकृति [illegible] [illegible]। मनुष्य में [illegible] [illegible] है। [illegible] को अब वह [illegible] पर सहन नहीं कर सकता। धूप और शीत से बचने के लिए [illegible] वस्त्र का आवश्यकता है।

इसी को दूसरी भाषा में सभ्यता का विकास कहते हैं। उस विकास के साथ देह का ह्रास हुआ है।

मनुष्य, कहते हैं, उस विकास में उत्तरोत्तर सामाजिकता प्राप्त करता गया है। और सच पूछिये तो वस्त्र की आवश्यकता के पीछे दैहिकता उतनी नहीं जितनी कि सामाजिकता कारण है। ऋतु तो नग्न तन पर सह भी ली जाय, पर सभ्यता तन को नग्न नहीं रहने देती है। वस्त्र इसलिए सर्दी गर्मी के लिए कम और सभ्य व्यवहार के लिए अधिकतर आवश्यक हैं।

यों भी दीखता तो यह है कि आज का सभ्यता मुख्यता से वस्त्र पर टिकी है बल्कि कपड़े सामाजिक उच्चता के लक्षण माने जाते हैं।

वस्त्र में कीमत डालने के लिए सोने और चांदी के तार बिने जाते हैं, चाहे उनका स्पर्श शरीर को तनिक भी सुखकर न होता हो।

इस वस्त्र-मूली तात्त्विक सभ्यता को गहराई से समझना चाहिये। तब जान पड़ेगा कि उसकी जड़ में क्या है। वहां सामाजिकता की सिद्धि नहीं बल्कि शोषण की वृद्धि है।

सामाजिकता निःसंदेह व्यक्ति के विकास के लिए आवश्यक है। मिल

जुलकर ही यहां काम चल सकता है। सहयोग यहां अनिवार्य है।

व्यक्ति एक पैदा हुआ है, पर इसलिए कि यथासम्भव किसी के भी प्रति वह दूसरा न रहे। तभी सूत्रकार ने कहा— "परस्परो पग्रहो जीवाना" एक दूसरे के काम आना जीव का लक्षण है। मनुष्य के इस स्वभाव में से मनुष्य को जन्म मिला।

इस सामाजिकता के उदय के साथ वस्त्र का उदय हुआ। पशु-पक्षी वस्त्र की आवश्यकता से मुक्त हैं क्योंकि उनमें सचेष्ट सामाजिकता नहीं है। उनमें लज्जा और मर्यादा की भावना ही नहीं हैं। वे स्वच्छन्द हैं। मनुष्य मर्यादाशील प्राणी है। उसका समाज है, जिसमें श्रेणियां हैं छोटे-बड़े हैं, मान सम्भ्रम है। मनुष्य समाज में सबके अधिकार बराबर नहीं है, कर्तव्य भेद से उनके अधिकारों में भी भेद है। उनमें परिवार भावना है और सम्बन्धों में दायित्व और पवित्रता की कल्पना है। शिक्षा-क्रम से उनमें गुरु शिष्य का भेद है। और एक चरण छूता दूसरा माथेपर रखकर उसे आशीर्वाद देता है।

यह जो मर्यादाशीलता का उद्भव और विकास है, यही क्या मनुष्य जाति की अर्जित संस्कृति और सभ्यता नहीं है, इसी के साथ वस्त्र की संस्था ने विकास पाया है।

इस दृष्टि से वस्त्र के विरुद्ध कुछ कहने का आवश्यकता नहीं है। वह लोक-जीवन के लिए अनिवार्य है। उससे मर्यादा शीलता और शुचिता का रक्षण होता है। वह वासना पर आवरण है। पर नहीं, वस्त्र वहीं तक नहीं रहा है। वासना को ढकने नहीं, दिखाने और बढ़ाने तक का साधन वह होने लगा है। वस्त्र की संस्था इधर आकर तो अब रोग की गांठ हो पड़ी है कारण है मेरी समझ में हम मनुष्यों की समाज को अपनी परिधि मान रहना और समष्टि-दृष्टि को भूल बैठना।

समाज को परिधि मानकर चलना मेरी दृष्टि में भ्रान्त है। मेरा मानना है कि उसके कारण हमने बहुत रोग अपने बीच बसा लिए हैं और सभ्यता अपनी मौलिक आवश्यकता से दूर पड़कर इतनी कृत्रिम होती जा रही है कि पाखंड बन उठी है। आवश्यकता है कि उस सभ्यता को फिर अपने मूल आदर्श से जोड़ा जाय और उसे स्वस्थ किया जाये।

समाज में मान और मान्यता प्राप्त करना यदि उन्नति का लक्ष्य हो तब तो वस्त्र को आवश्यक रूप में इसका साधन बनाया ही जायगा। तब मनुष्य की चेष्टा वस्त्र की संस्था को जटिल बनाने में लगेगी।

यहां तक कि वह एक समस्या और शोषण का केन्द्र बन रहगी। लोग हर क्षण नया फैशन निकालेंगे और बीते

वस्त्र का फैशन पुराना पड जायगा। नतीजा यह होगा कि लोग उस दौड में वस्त्रों का ढेर पास रखकर भी संतोष रख सकेंगे कि वे काफी आधुनिक हैं। हर कपड़ा वस्त्र चलने के साथ पुराना हो जायगा और नये की मांग होती जायगी डिजाइन और कट के नये-नये आविष्कार होंगे और न जाने कितने लोगों की बुद्धि इसी में लगी रहा करेगी। इसके कारण दूसरी ओर वस्त्र का अकाल होगा और लाज और शीत से तन ढकने को भी वे चीथड़ा ना पायेंगे।

यह चमक-दमक की आसुरी सभ्यता होगी और वहाँ वैभव के शिखर आसमान को चूमना चाहेंगे। हीरा मोती, सोना चांदी से वस्त्रों को मढ़ा जायगा कि उधर अनेक नंगे रहें, जिन्हें रहने को ठौर और खाने को कौर न हो।

यह सभ्यता आदमी को परिग्रह के संचय में सुख दिखायेगी और परस्पर सहानुभूति और अहिंसा की भावना को चूसती जायगी। मनुष्य तब अपने स्वार्थ में रत होकर शोषक बनेगा और अपने को सभ्य मानेगा।

सामाजिकता को अंतिम समर्थन और उसी को चरम धर्म मानकर चलने म यह खतरा है ही। भौतिक दर्शन उसी में हमें ला पटकता है। अगर दीखनेवाला पदार्थ ही सच है तो उसका भोगोपभोग जीवन का चरितार्थ बनता है तब पदार्थ मात्र भोग्य होता है और मनुष्य उसका भोक्ता ठहरता है। इस वृत्ति में से स्वार्थ को महत्व मिलता और सम्पदा आडम्बर का संचय होता है।

किन्तु मैं मानता हूँ कि सामाजिकता से घिरी इसी वृत्ति म सच्ची सामाजिकता का बीज नहीं है।

समाज में उससे विषमता भिदा पड़ती है। विरोधी स्वार्थों को लेकर उनसे वर्ग, समूह, और सल्तनतें बनती हैं जो अपनी अहंता में दूसरों से स्पर्धा ठानती हैं। इससे विग्रह और विस्फोट को जन्म मिलता है।

वे लोग जो लौकिकता की परिभाषा में ही धर्म को देखते हैं जाने अनजाने इस स्वार्थ विग्रह की आंच में हवा पहुँचाते हैं। अत आवश्यकता है कि उस आदर्श को हम सदा स्मरण में रक्खें जो समाज पर आकर नहीं रुकता आगे समष्टि तक जाता है, जो अपनी अनुभूति में मानने पर समाज को वैसे ही अपनाना चाहता है जैसे मानव समाज को?

समाज के लिए वस्त्र आवश्यक हैं, किन्तु समष्टि के पक्ष में उस वस्त्र का भला क्या अर्थ रह जाता है? सूर्य क्या पृथ्वी के प्रति अपने को ढकेले, या पृथ्वी को सूरज से घूंघट ले ले?

आकाश के चमकते तारे, बहती वायु, खुला आकाश, झूमते पेड़ और तरंगित सागर, क्या सब भी वस्त्र ओढ़ें और पहिनें? तब यह पुरुष ही भला

कैसे अपने को कपड़ों में मूंदे की जिसे उन सब में रसलीन और समस्वर हो रहना है। दिगत व्यापी अंबर उसे अंबर है। कपड़ा जो तन को, धूप के स्वास्थ्य और वायु की थपक से वंचित रखना है, क्यों उसके लिए आवश्यक है ? जिसे वायु परगाथ बहना और धूप के साथ खिलना है, जिसके प्राण अपनी व्याप्ति में कोई परिधि नहीं मानते और लोकांत को छुए बिना जिसकी सहानुभूति चैन न पायगी—ऐसा महा अहिंसक पुरुष किससे बचने को कपड़े पहिने !

जिसे सबके प्रति खुला रहना है सबको अपने में ले लेना है, वह कैसे वस्त्र का व्यवधान सहे ! क्या वस्त्र ऋतुओं से और सभ्यताओं से अपने को बचाने का निमित्त ही नहीं है ! क्या वह भीति का प्रतीक नहीं है कि जिसका सामाजिक रूप लज्जा और दैहिक रूप सर्दी-गर्मी है। लेकिन वह कि जिसमें निखिल के प्रति प्रीति है जो ऋतुओं का आह्वान करता है, और प्राणिमात्र के प्रति जिसका हृदय करुणा से खुला पड़ा है, उसमें किसके प्रति भीति शेष रहे कि वस्त्र की आवश्यकता हो ?

यह दिगम्बरता का आदर्श असामाजिक नहीं है, यद्यपि सामाजिकता से सीमित नहीं है। सामाजिक होकर मानव प्राणी समाप्त नहीं है। अपने जैसे दूसरे मानवों के साथ सम्पर्क साधकर ही वह परिपूर्ण नहीं हो जाता। आगे भी उसकी सम्भावनाओं को विस्तार पाते जाना है। उसे वनस्पति से, वायु से, पृथ्वी से, जल से, ऋतुओं से भी सामंजस्य प्राप्त करना है। उसके लिए अगम मानव जाति तक परिमित नहीं है समूचे ब्रह्माण्ड के प्रति उसका निमंत्रण है। ऐसा पौरुषमय पुरुष समाज से पार, समष्टि में मिलने का प्रयासी दीखता है, और, मानव को ही नहीं, निखिल जगत को उसका आत्मदान प्राप्त होता है।

यह मुक्ति का आदर्श है। यह आदर्श उपयोगिता की सीमा रेखाओं से आगे जाता है। यह लोकोपकार की की माया का रूप में नहीं आता और आत्म कैवल्य की माया ही इसे छू पाती है। कारण, लोक तो ससीम है, आत्मा ही असीम है। जिसने आत्मा को पाया, उसे कुछ पाने से न रहा। जिसने अपने वह कुछ न रखा उसने सबको सब देकर सब पा लिया। यह आत्म साधना और मुक्ति का आदर्श सच्चे लोक-कल्याण का प्रकाशक है। नहीं तो उपयोगिता-समाज दर्शन और तदनु सारी लोक प्रवृत्तियां सचाई में विशेष लोक मंगल नहीं साध पातीं। कारण, जहां वे सत्य मानती हैं वह वहां नहीं उसके पार है। और मानव समाज पर सत्य समाप्त नहीं, सत्य उससे बड़ा और व्यापक है।

जो दृष्टि सामाजिकता से सीमित

है वह दिगम्बरता के आदर्श को नहीं समझ सकती। लेकिन स्पष्ट है कि समाज की सत्ता इधर सृष्टि से स्वतंत्र नहीं है। विज्ञान बताता है कि कैसे सहस्राब्दियों के अंतराल में मानव को जन्म मिला और उसमें नाना चेष्टाओं ने विकास पाया। वह बताता है कि किस प्रकार मानव शेष सृष्टि से अलग नहीं उसका अंगीभूत ही है। मानव इतिहास और मानव सभ्यता ब्रह्माण्ड की शेषप्रतिक्रिया से अलग होकर सम्भव नहीं होते। मानव चेष्टा विश्व व्यापी विराट कर्म-चक्र का एक अंग ही है। उससे उच्छिन्न होकर उसका मूल्य कुछ भी नहीं रह जाता।

यह समष्टि मूलक दृष्टि धर्म की है। उसका आरम्भ बिंदु आत्म-चेतना है। उस चेतना को परमात्म चेतना में रूपांतरित करना है। व्यष्टि को समष्टि होना है। इस साधना के मध्य में ही सामाजिकता आ जाती है। व्यष्टि अपने को समष्टि में लीन करने की साधना में क्रमशः उत्तरोत्तर सामाजिक होता जाता है। उसका अहंकार शान्त होता और उसकी सहृदयता प्रसार पाती जाती है। हिंसा से वह अहिंसा की ओर बढ़ता है। यहाँ तक कि अपने लिए वह कुछ भी नहीं रहता, कुछ नहीं रखता, और आत्यन्तिक अपरिग्रही बनता है।

आज अभाव की समस्या है। समझा जाता है कि उत्पादन से यह दूर होगी। पर उत्पादन की कमी से वह पैदा नहीं हुई, वितरण की विषमता के कारण वह आई है। इससे उत्पादन के गुणानुगुणित करने से भी वह तब तक दूर नहीं होगी जब तक वितरण की व्यवस्था समीचीन नहीं होगी। आज तो तृष्णा का अन्त नहीं है। जो जितना पा जाय थोड़ा है। इससे कोरे उत्पादन बढ़ाने से इसके सिवा और क्या होगा कि जिनके पास बहुत है वह और बहुत हो जायगा और जिसके पास कम है, वह उससे भी कम रह जायगा। अरे, उद्योगीकरण से यही तो हो रहा है। करोड़पति अरबपति और दीन दरिद्र बन रहा है। प्रचुरता और अभाव दोनों साथ साथ बढ़ रहे हैं।

ऐसे समय दिगम्बरता का ही आदर्श काम आ सकता है। वह अपरिग्रह धर्म का चरम उत्कर्ष है। आवश्यकता बढ़ाकर हम समस्याएं भी बढ़ाते हैं। इस तरह बंधन बढ़ता है और मोक्ष हटता है। लखपति और करोड़पति, राजा और सम्राट क्या अपने लाख करोड़ और राज्य साम्राज्य के स्वामी होने के बहाने कैदी ही नहीं हैं? क्या वे आजाद हैं कि जैसे पक्षी आजाद होता है? क्या उनका वैभव जकड़ और बड़प्पन बोझ भी नहीं है? और इधर सत है कि सब घर उसे समान हैं, सब जन अपने हैं और कोई

परिधि उसकी आत्मा पर बाधा बनने के लिए नहीं आ पाती है।

अपरिग्रह का यह आदर्श जितना अनिवार्य है, उतना दुगम भी है। धन्य हैं वे कि जो उस तक पहुँचते हैं। वे कि जिसके लिए यह साधना नहीं अनायासता है। वे सचमुच मेरे लेखे धन्य हैं कि दिगम्बरता जिनकी अहिंसा की अभिव्यक्ति है।

अमरीका और जर्मनी आदि देशों में नग्नता के प्रयोग हुए हैं। पाया गया है कि दैहिक और मानसिक स्वास्थ्य के लिये नग्नता गुणकारी है। लेकिन विचार का यह धरातल मेरे लिए अप्रस्तुत और अविचारणीय है। जिस दिगम्बरताके आदर्श की बात ऊपर कहा, उसकी भूमिका एकदम भिन्न है। वह आध्यात्मिक है। कैवल्य की दिगम्बरता में अहिंसाकी, हृदयकी, अपार करुणा की अभिव्यक्ति है। उसमें अभाव तो है ही नहीं, एक परिपूर्णता है। उसमें शौक या आग्रह नहीं है, एक आन्तरिक अनिवार्यता है। आकाश को किस अतिरिक्त वस्त्रकी आवश्यकता है! उसी तरह धूपको, और चांदनी को, दिनको और रातको किस आवरणकी आवश्यकता है! वह उन्हें नियम नहीं लगता है। इसी तरह दिगम्बर केव[ल] स्थिति का वेश है। अत उस दिगम्बर[ता] के पक्ष म साधारण तल के तर्कों [की] गति मुझे तनिक भी नहीं दीखती है। मेरा मानना है कि विदेश की नग्नता [के] प्रयोग किंचित असामाजिक प्रवृत्ति [के] सूचक हैं। जबकि सच्चे योगी की दि[ग]म्बरता का आदर्श विश्वजनीन [वि...] साधना से ही प्राप्त होता है।

कहने की आवश्यकता नहीं [...] आदर्श का मूल्य स्वतन्त्र है। वर्तमा[न] की त्रुटि उसपर आरोप बनकर [...] आ सकती।

—"पूर्वोदय[...]

जिनके चरणों पर राष्ट्र चलता है

—सुश्री तारादेवी 'नलिनी'

यद्यपि आज का भारतीय नारी समाज पिछली दो शताब्दियों से बहुत कुछ आगे बढ़ा है किन्तु अभी भी उसमें रूढ़ियाँ, अन्ध विश्वास, निरक्षरता और सकुचितता ज्यों-की-त्यों है। जब तक नारी को चरखी, चूल्हा और चक्की की 'चक्की' से निर्मुक्त कर उस विधायक दिशा में हम नहीं ले जाते तबतक उसका उत्थान असम्भव है। चक्की चूल्हे से मोक्ष देने का तात्पर्य गार्हस्थिक कामों से उदासीन कर देना नहीं अपितु उसे—इन कामों के अतिरिक्त विश्व के घटना चक्र में देश विदेश के प्रगतिशील नारी समाज से अधिकाधिक परिचित कराना है जिससे वह न सिर्फ अपने जीवन को बल्कि समस्त परिवार को जिसका कि वह आधार शिला है, अधिकतम आल्हाद और सुख पहुंचा सके।

जब हम भारतीय नारी-समाज की विश्व के दूसरे देशों की नारियों से तुलना करते हैं तब यह बात कि हम अभी उत्थान की दौड़ में एकदम बहुत पीछे हैं, स्पष्ट हो जाती है। हमारा देश सदियों से गुलाम रहा है और आज भी भले ही हम ऊपरी तौर से स्वतन्त्र होगये हों किन्तु मनोवृत्तियों की स्वतन्त्रता हममें अभी तक पैदा नहीं हुई है। देश के अधिकांश देहात—रूढ़ियों, अन्ध विश्वासों और अज्ञान के आज भी उतने ही शिकार हैं जितने कि आजसे कई शताब्दियों पहले थे बल्कि हम तो यहां तक मानते हैं कि साक्षरता और ज्ञान के ह्रास के साथ ही हमारे शिल्प का ह्रास भी हुआ है नहीं तो शिल्प और कला भारतीय परिवार के अभिन्न थे। मुगल और ब्रिटिश काल को पार करती हुई बौद्ध और परवर्ती युग की नारी आज मानसिक और शारीरिक दोनों दृष्टियों से अपाहिज है। एक सबसे बड़ा और विषैला तत्व जो कि हमारे समाज की जड़ों को कुतरता रहा है वह है उनका मात्र भोग्य-पदार्थ माना जाना। हम जानते हैं कि आज 'भोग्य' और योग्य में भयंकर संघर्ष है और अन्तत 'योग्य' की ही विजय होगी और नारी को—भोग्य-शृंखलाओं से मोक्ष देकर हम उसे अधिकाधिक योग्य बनाने में जुट जायेंगे किन्तु इससे पहले कि हम इस कार्य क्रम को आरम्भ करें यह बहुत जरूरी है कि हम उस कुत्सित वातावरण को जिसमें कि आधुनिक नारी समाज घिरा हुआ है परिशुद्ध और स्वस्थ करें ताकि हमारा अभिप्राय सरलभाव से पूरा हो सके।

निस्सन्देह आधुनिक नारी समाज बाहरी रूप-सज्जा के प्रति जितना अधिक सावधान है अंतरंग के विकास

और विस्तार का मोह उसे इतना नहीं है। नहीं है सो कोई बात नहीं समाज का वातावरण ही कुछ ऐसा बना दिया गया है कि उसे इस परिवर्तन पर कुछ भी विचार करने का अवकाश ही नहीं है। शृंगार प्रसाधनों ही ने उसकी दैनिक चर्या को इतना अधिक व्यस्त कर लिया है कि उसे अन्य दूसरे कामों के करने का तो कोई चिन्ता ही है और न कोई आकांक्षा। यह निष्क्रियता और मृत्यु की ओर झकझोरकर खींचने वाला असंतोष कि वह जिस वातावरण में युगों से चला आ रहा है वही ठीक और आवश्यक है नारी समाज की जड़ों को ढीला कर रहा है। मन का दूसरा नाम ही मौत है। इसलिये यह बहुत जरूरी है कि हम आज न नारी समाज से मुक्त रहीं—आकांक्षा, वात्सल्य और प्रगतिशील तत्वों का ज्ञान, विज्ञान और अच्छे वातावरण के स्नेह से सिक्त करें और उसके प्रकाश का अखंड और अक्षुण्ण बनायें।

आज का नारी समाज जीवन की जिन यातनाओं से हटता आ रहा है हमारा सबसे पहला फर्ज है कि हम ऐसा होने से रोकें ताकि उसका मानसिक चरण जोकि युगों से चल रही सामाजिक विवशताओं की आंधियों से और भी भयकर रूप ग्रहण कर गया है, थम सके। इस सचाई से कि नारी में नवयुग का प्रवेश जरूरी है हम मुंह नहीं मोड़ते किन्तु इस बात को भी पूरी ताकत से कह देना चाहते हैं कि जबतक हम उस जमीन को उन आधारों को जिन पर आज की रूढि ग्रस्त नारी खड़ी हुई है बदल नहीं देते तबतक हम उसका ईप्सित उद्धार नहीं कर सकते।

सबसे पहला आन्दोलन जो कि नारी समाज के लिये आवश्यक है वह है उसके 'परिवार' का कायाकल्प उसके चहुँ मुखी वातावरण का परिष्कार। उस आन्दोलन की सफलता और क्रियान्विति के लिये हमें कुटुम्ब में नारी के स्थान की पुनर्प्रतिष्ठा करनी होगी। जैसाकि आज से युगों पहले उसे घर का व्यवस्थापक और मार्गदर्शक माना जाता था, उसी रूप की प्रतिष्ठा आज भी जरूरी है। अतः यह आवश्यक है कि हम 'नारी' को व्यर्थ के बंधनों से मुक्त कर उसे शिशु संरक्षण के लिये आधुनिक ज्ञान विज्ञान से परिचित और पुरुष की सहयोगिनी की तरह कला, विश्व घटनाचक्र तथा विविध गतिविधियों की जानकारी से युक्त करें। प्रत्येक सामाजिक का यह प्रयत्न होना चाहिये कि नारी में नैतिक संरक्षण के साथ ही विधायक प्रवृत्तियों का भी उत्थान हो जिससे वह कला और शिल्प के निर्माणकारी कार्यों में लग सके।

सम्पूर्ण परिवार में बालकों का स्थान अत्यधिक महत्वपूर्ण है। ये नन्हें

न्हें इनदार ही आगे चलकर धार्मिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय बनते हैं। अतः जबतक हम इनके निर्माण की ओर ध्यान नहीं देते तबतक निश्चय मानिये भविष्य को उज्ज्वल बना पाना असम्भव है। शायद ने इस बात को बिना किसी हिचक के स्वीकार किया है कि बच्चा जन्म से एकदम पवित्र, सुशील और स्वस्थ होता है किन्तु समाज व अवांछित वातावरण से उसकी अधिकांश शक्तियाँ कुण्ठित और अविकसित रह जाती हैं। इसलिये हमें चाहिये कि उनको जिनके कन्धों पर राष्ट्र आगे बढ़ना है, उपयुक्त शिक्षण और वातावरण दें जिससे अनागत अधिकाधिक उज्ज्वल और आशाप्रद बन सके।

यह सर्वमान्य है कि परिवार ही वह विश्व विद्यालय है जहाँ आगामी जीवन की आधार शिलाएं रखी जाती हैं और यदि यह शिलान्यास विधि यथाविधि सम्पन्न नहीं हुई तो सम्बन्धित पारिवारिक का अनागत अनुज्ज्वल और अंधकारपूर्ण हो जाता है। इसलिये यह बहुत जरूरी है कि हम छोटे छोटे नागरिकों तथा उनके भावी संरक्षकों (नारियों) के जीवन को काफी सन्तुष्ट, साधन-सम्पन्न और पूर्ण बनायें। बच्चों को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से शिक्षित बनायें और नारी को सादगी से पूर्ण सुखी परिवार का सृजन और राष्ट्र का विधाता बनने की प्रेरणा दें।



सम्पादकीय––

ऐसे वक्त जबकि सारा संसार भूखे भेड़ियों की तरह एक दूसरे को झपटने की दुश्चिन्ता से घिरा हुआ है और युद्ध की विग्रनयापी सम्भावनाओं ने तमाम समस्याओं को निपट पचीदा बना दिया है, संस्कृति, समर्पण और स्वार्थ त्याग विज्ञापन दिक्‌ + अम्बरी (सर्वथा अहम् त्याग) वाली संस्कृति की बातें करना विद्रूप विडम्बना है। निश्चय ही आज धरा के एक ध्रुव से दूसरे ध्रुव तक परिग्रहवाद और हिंसा का भयंकर कुचक्र अपनी सम्पूर्ण गति से प्रवहमान है। एक मनु पुत्र दूसरे मनु पुत्र की रक्त शिराओं के उष्ण रक्त को भूखे भेड़िये की तरह चूस जाना चाहता है। ऐसी तृतिशाप विभीषिका में वात्सल्य, स्नेह, अपरिग्रह, सर्वस्व समर्पण और मनन चिन्तन का प्रसंग जंगखोर मुल्कों के एलानों और कुकृत्यों की निगाह में अक्षम्य अपराध हो सकता है किन्तु कोरिया, मिश्र, ट्यूनीशिया, हिन्दुस्तान आदि के नरमेधों का तकाजा है कि हम मासूम जिन्दगियों के खिलाफ रची जा रही बेरहम मनहूस साजिशों का 'शान्ति और आध्यात्मिक परम्पराओं' द्वारा मुकाबला करें। इन्हीं रक्त-स्नात परिस्थितियों में से कुछ ऐसे मनस्वी और तत्त्व जोकि मनस् के सम्पूर्ण ख गोल और भूगोल की अधिकृत जानकारी रखते हैं जन्म लेते हैं और धरों की तरह मल-मूत्र का खाद खाकर सोना उगलते हैं, अपने पथ भ्रष्ट सहोदरों को अनुभूत इंगितों द्वारा राहत का मार्ग बताते हैं। धर्म की बोली में हम जिन्हें तीर्थङ्कर (तीर्थ निर्माता) या अवतार कहकर पुकारते हैं सब की बोली में उन्हें ही हम 'युगचेता मानव' कहकर पुकारते हैं। पुराणों की आलङ्कारिक और अतिशयोक्ति पूर्ण भाषा से बचते हुए जब हम उसके मर्म तक पहुंचते हैं तब हम सहज भाव से कह सकते हैं कि औसतन मनुष्य ही निरन्तर विकास और संस्कार द्वारा महामानव के स्तर तक पहुंच जाता है। ऐसे ही महापुरुषों के चरणों पर संस्कृति रश्मि, अणु, और वाष्प से निर्मुक्त होकर आगे बढ़ती है। यह सर्वमान्य है कि संस्कृति राजनीति अर्थनीति, समाज-नीति, कूटनीति, इतिहास पुराण, मनोविज्ञान खगोल, भूगोल, भाषा सभी की तलवर्ती स्रोतस्विनी है। उसे हम ऊपरातौर पर अनुवंश और वातावरण इस दो खंडों में विभक्त कर सकते हैं। इनमें से अनुवंश एक ऐसा तत्व है जिसमें पुरखों की 'इंस्टिंक्ट्स' या आदिम प्रवृत्तियां ज्यों की त्यों उतरती चली आई हैं। आयुध, उद्योग, वाष्प, अणु और रश्मि के विविध स्तरों से गुजरती हुई मानव संतति आदिम प्रवृत्तियों को किस हद तक परिष्कृत करती रही है

इसी का लेखा जोखा सस्कृति है। मनो वैज्ञानिकों ने अनुवश का सम्बन्ध सीधे रक्त से माना है। उनका विश्वास है कि सांस्कृतिक तत्वों का सरक्षण जितना अधिक "क्रोमोसम्स" के जोड़ों में होता है उतना अधिक वातावरण में नहीं। वातावरण का सम्बन्ध अक्सर सभ्यता से जोड़ा जाता है। मनस् वेत्ताओं की मान्यता है कि मनुष्य को अधिकांश निर्मिति "जनक-जननी" से हस्तान्तरित "क्रोमोसम्स" में होता है। उसका बनना बिगड़ना "क्रोमोसम्स" के जोड़ों में ही निहित है। यों मान लिया जाना चाहिए कि अनुवश संस्कृति को बनाता है और वातावरण सभ्यता को—किन्तु कही गई बातको सहज नहीं अक्षरशः मानना चाहिए क्योंकि दोनों एक दूसरे से इतने अधिक जुड़े हुए हैं कि हम दोनों की स्थितियां अलग-अलग करके नहीं देख सकते। दोनों को एक दूसरे के पड़ोस में रखकर देखना पड़ेगा। अनुवश एक अविरल प्रवाह है जो आद्या नारी और आदि नर से उसकी उप सन्ततियों में क्रमशः विभक्त होता हुआ विस्तीर्ण होगया है इसलिये यह बहुत जरूरी है कि हम इस प्रवाह के उद्गम और विकास को मनोयोगपूर्वक समझें। जब तक हम यह नहीं मानलेते कि सस्कृति का विकास होता है उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य के उसूल पर—तब तक हम सस्कृतिके अन्तवर्ती अर्थ तक नहीं पहुँच सकते। सस्कृति जब वातावरण के सम्पर्श में परिणमन करती है तब इसे हम सस्कृति का "उत्पाद" कहते हैं। वह नवीन प्रवाहों से मिलकर अपने परवर्ती अस्तित्व का नये अस्तित्व के रूप में व्यय" करती है तब इसे हम सैद्धांतिक शब्दावली में सस्कृति का व्यय कहते हैं। इस उद्गम और व्यय के अतिरिक्त संस्कृति की एक और स्थिति है जिसे हम 'सस्कृति का ध्रौव्य" कहते हैं। यहां "सस्कृति की धारा" नई धाराओं से मिलकर भी अपनी बुनियादी धातुओं को कायम रखता है इसे हम सस्कृति की "ध्रौव्य" स्थिति कहकर पुकार सकते हैं। इस तरह संस्कृति साधारण 'वस्तु" का तरह उत्पन्न, विनष्ट और फिर भी द्रव्यार्थिक दृष्टि से अविनष्ट रहती है। इस तरह यदि हम ससार की इस खूंख्वार स्थिति को—जिसमें कि मनुष्य का आन्तरिक हा हा कार और वैषम्य पूरी तरह स्पष्ट हुआ है—बदलना चाहते हैं तो हम सस्कृति का सहारा लेना होगा। हमारा यह सांस्कृतिक दावा है कि जबतक विश्व की खतरनाक और विस्फोटक स्थिति पर अन्तर्राष्ट्रीय सांस्कृतिक स्तर पर विचार नहीं किया जाता तबतक विध्वसक तत्वों का घटाना कठिन है अतः विश्व की तमाम सन्तप्त और दग्ध आत्माओं से हमारा विनम्र किन्तु कठोर निवेदन है कि वे अपने सांस्कृतिक स्तर को दृढ करें और अपने रक्त में

दिन की तरह साफ करदें कि शांति में वह अपरिमेय शक्ति है जो किसी भी हिंसावादी ताकत को शिकस्त देने का सामर्थ्य रखती है। हमें चाहिये कि हम अपने में इस सामर्थ्य को व्यवहार और यथार्थ में सामञ्जस्य की स्थिति कायम कर विकसित करें और युगों की प्रासी चोरसी चली आरही इस उज्वल परम्परा को धूमिल होने से रोकें।

प्रस्तुत अंक—

'श्रमण संस्कृति' का दूसरा अंक अपने पाठकों को देते जहां एक ओर हमें अतुल हर्ष है वहीं इस बात का खेद भी है कि हम इस अंक को अपने अविराम प्रयत्नों के बावजूद भी निश्चित समय पर निर्धारित रूप सज्जा के साथ प्रकाशित नहीं कर सके। फिर भी हमें इस बात से पूरा संतोष है कि अंक में संकलित सामग्री नितान्त उपयोगी और अपने ध्येय को पूरा करने वाली है। 'श्रमण संस्कृति' के सम्पादन में हमारे पूरे प्रयत्न रहे हैं कि पाठक को 'श्रमण' और 'संस्कृति' के स्पष्टार्थों से परिचित कराया जाय और 'श्रमण-युग' से 'विनोबा युग' तक के तमाम परिवर्तनों की एक झांकी दी जाय। जैनेन्द्रजी का 'दिगम्बर' निबन्ध हमारे इस ध्येय का स्पष्ट पूर्ति करता है।

'मिलिन्द प्रश्न' से उद्धृत अंशों में 'श्रमण' की जो व्याख्या हुई है वह पठनीय है। यों मिलिन्द प्रश्न स्वाध्याय और मनन की चीज है। प्रत्येक श्रावक को इसे अपने दैनिक स्वाध्याय की वस्तु बनाना चाहिये। महास्थविर नागसेन से यवनराज राजा मिनाण्डर ने ठीक वैसे ही प्रश्न किये हैं जैसे राजा 'श्रेणिक' ने गणधर गौतम से किये थे। 'काम निशानि मान है' जानक कथा के आधार पर लिखित एक उत्कृष्ट कहानी है जिसके लेखक श्रीअक्षयकुमार जैन का है और आत्मा बोधिसत्व की। इनके अतिरिक्त श्री वीरेन्द्र जैन का 'हम तो स्वाधीन विचरते हैं' कविता, स्व शाह का 'महावीर ने कहा', श्री शिखरचन्द जैन की पौराणिक कहानी ने भी अङ्क का स्रोतस्विनी को बहुत कुछ प्रवाह दिया है। यद्यपि हम इस बात से इन्कार नहीं करते कि अंक का अधिकांश कलेवर अमौलिक है, ऐसा भी कि कई पुस्तकों या जैन मासिकों में प्रकाशित हो चुका है, किन्तु इसके बावजूद भी उद्धृत अंश इस श्रेणी के हैं कि उन का प्रत्येक पुनरावृत्ति नित्य-नवीन दृष्टि को देता है। महात्मा भगवानदीन का कहानीनुमा दार्शनिक निबन्ध इसी श्रेणी का है।

हमें हार्दिक विश्वास है कि भविष्य में भी हमें अपने तरुण और स्वतकेश साहित्यिकों से इसी तरह सहयोग मिलता रहेगा जिससे हम आगामी अंकों को पूरी सफलता के साथ प्रकाशित कर सकेंगे।

श्री महावीर जयन्ती उत्सव-समिति इन्दौर

आय व्यय विवरण पत्रक,
वीर संवत् २४७६

२००॥-)॥	श्री सिलक बाकी	४८॥।)	श्री प्रभात फेरी खर्च
४००)	श्री दिगम्बर जैन कपड़ा कमेटी मुख्य पद कपड़ा मार्केट इन्दौर	२८६॥=)॥	श्री सभा खर्चे, सजावट छपाई, प्रचार, पोस्टर, लाइट, रेडियो इत्यादि
२००)	श्री श्वेताम्बर जैन मूर्ति पूजक मुख्य पद कपड़ा मार्केट इन्दौर	२६२॥)	प्रवास व मेहमानों की भोजन व्यवस्था खर्च
		२४॥)	पोस्टेज, तार टुक-काम खर्च
१००)	श्री स्थानकवासी जैन स्थानक वासी मुख्य पद कपड़ा मार्केट इन्दौर	७॥)	मजदूरी फूल व गेरची खर्च
		८०७-)॥	
९००॥-)॥		९३॥=)	श्री सिलक बाकी

आय व्यय विवरण पत्रक, वीर संवत् २४७७

१९३।=)	श्री सिलक बाकी	१२=)	प्रभात फेरी खर्च
४००)	श्री दिगम्बर जैन कपड़ा कमेटी मुख्य पद, कपड़ा मार्केट इन्दौर	४६७)	सभा खर्च छपाई, प्रचार पोस्टर लाइट रेडियो।
		५२॥)	प्रवास खर्च
२००)	श्री श्वेताम्बर जैन मूर्तिपूजक मुख्य पद कपड़ा मार्केट इन्दौर	४३॥)	तार टेलीफोन व पोस्टेज
		४३=)	स्टेशनरी खर्च मजदूरी फूल व अन्य स्टेशनरी
१००)	श्री स्थानकवासी जैन स्थानक वासी मुख्य पद कपड़ा मार्केट इन्दौर	२००)	चन्दा पद्धति में खर्च
		६९५॥)	
८९३।=)		१९८।=)	श्री सिलक बाकी

अहिंसा का एक तोला आचरण
भी सैकड़ों मन कोरी किताबी।
और सैद्धान्तिक अहिंसा
से कहीं अधिक
श्रेयस्कर है!

